कामताप्रसाद गुरु

[जीवन-रेखाएँ और प्रतिनिधि रचनाएँ]

●

प्रकाशक :

मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद

भोपाल

●

प्रथमावृत्ति : १९७६

●

मुद्रक :

सिघई प्रिंटिंग प्रेस

जबलपुर

पहली प्रति

गुरुपरिवार को

सादर

(श्यामाचरण शुक्ल)
अध्यक्ष
मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद
भोपाल
एवं
मुख्य मंत्री
मध्य-प्रदेश

प्रकाशकीय

राज्य की साहित्यिक प्रतिभाओ को प्रोत्साहित और सम्मानित करने के उद्देश्य से शासन द्वारा वर्ष १९५४ मे म० प्र० शासन साहित्य परिषद की स्थापना की गई थी। अपने इन्ही उद्देश्यो की पूर्ति के लिए उत्कृष्ट साहित्यिक कृतियो को पुरस्कृत करना, लब्धप्रतिष्ठ विद्वानो के व्याख्यानो का आयोजन कर उन्हे पुस्तकाकार प्रकाशित करना, साहित्यिक गोष्ठियो और सम्मेलनो का आयोजन आदि नियमित कार्यकलाप के तहत पिछले बीस वर्ष से कार्य कर रही है।

साहित्यिक रचनाओ के प्रकाशन कार्यक्रम के अतर्गत परिषद अब तक २२ महत्वपूर्ण कृतियाँ प्रकाशित कर चुकी है, जिसमे 'सहज साधना' (डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी) 'पाणिनी परिचय' (डा० वासुदेव शरण अग्रवाल) 'भारतीय सस्कृति मे जैनधर्म का योगदान' (स्व० डा० हीरालाल जैन) 'कलचुरि नरेश और उनका काल' (डा० वा० वि० मिराशी, 'भारत मे आर्य और अनार्य' (डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या) 'नाट्य कला मीमासा (स्व० सेठ गोविददास) 'कला के प्राण बुद्ध' (श्री जगदीशचद्र) 'भारतीय दर्शनो का 'समन्वय' (स्व० डा० आदित्यनाथ झा) 'हिंदी साहित्य और तुलसीदास' शोध की दिशाए (डा० भागीरथ मिश्र) अनुष्टुप सूर्यनारायण व्यास की प्रतिनिधि रचनाए (सम्पादन डा० प्रभाकर श्रोत्रिय) रामानुजलाल श्रीवास्तव प्रतिनिधि रचनाए (सम्पादन श्री हरिशकर परसाई) 'म० प्र० के सगीतज्ञ' (श्री प्यारेलाल श्रीमाल) निरजनी सम्प्रदाय के हिंदी कवि (डा० सावित्री शुक्ल)।

प्रस्तुत ग्रथ क्रम से चौबीसवा लेकिन महत्व की दृष्टि से परिषद के अत्यत महत्वपूर्ण प्रकाशनो मे से एक है। यह इसलिए भी कि इसका प्रकाशन विख्यात व्याकरणाचार्य की स्मृति मे आयोजित शताब्दी समारोह के अवसर पर परिषद कर रही है।

प्रस्तुत ग्रंथ के प्रकाशन में जिन विद्वानों का सहयोग मिला हम उनके आभारी हैं, और आभारी हैं पं० रामेश्वर गुरु और डा० राजेश्वर गुरु के जिन्होंने स्व० आचार्य कामताप्रसाद गुरु के जीवन और कृतित्व से संबंधित बहुमूल्य सामग्री के संचयन में हमें सहयोग दिया। हम अग्रज साहित्यकार पं० भवानीप्रसादजी तिवारी के भी आभारी हैं जिन्होंने अपना बहुमूल्य समय देकर इस अभिनव ग्रंथ को सम्पादित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया है।

विश्वास है कि विख्यात व्याकरणाचार्य पं० कामताप्रसाद गुरु की जीवनी और उनकी प्रतिनिधि रचनाओं का यह संकलन हिंदी के पाठकों, शोधकर्ताओं, विद्वानों और साहित्य प्रेमियों के लिए हर्ष और आदर का कारण बनेगा।

शानी
सचिव
मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद,
भोपाल

भोपाल
२५ दिसम्बर १९७६

पंडित कामताप्रसाद गुरु

आभार...

इस पुस्तक के सम्पादन, लेखन और सामग्री सकलन में मुझे सर्वश्री रामेश्वर प्रसाद गुरु, डा० राजेश्वर गुरु, डा० रामशंकर मिश्र, डा० श्रीमती सुमन मिश्र, डा० श्रीशकुमार, डा० कृष्णकांत चतुर्वेदी, प्रोफेसर अब्दुल बाकी, पन्नालाल श्रीवास्तव और रामेन्द्र तिवारी ने सहयोग दिया है। रेखाचित्र, आवरण व मुखपृष्ठ की रचना कलाकार श्री विजय ठाकुर ने की है।

वास्तव में उक्त मित्रों के सहयोग ने ही पुस्तक का रूप धारण किया है। सभी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। मुझे प्रसन्नता है कि मैं निमित्त बन सका।

मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद ने अर्थव्यवस्था और सिंघई प्रिंटिंग प्रेस, सुन्दर मुद्रण का आभारी हूँ।

सम्पादक

सम्पादक की ओर से…

मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद द्विवेदी काल के उद्भट साहित्यकार कामताप्रसाद गुरु का जन्मशती समारोह आयोजित कर रही है।

यह अचरज की बात है कि गुरुजी की प्रारंभिक रचनाएँ 'उर्दू' मे हुई। १९ वी शताब्दी के अन्तिम दशक मे कन्नौज से 'पयामे आशिक' नामक पत्रिका प्रकाशित होती थी। इसमे 'दाग' देहलवी, 'जलील' लखनवी, 'ताहिर' फरुखाबादी आदि चोटी के शायरो की रचनाएँ छपती थीं।

इस प्रतिनिधि पत्रिका मे कामताप्रसाद गुरु की रचनाएँ सम्मानसहित प्रकाशित हुई। १८९३, ९४ और ९५ के अको मे जो प्रोफेसर डा अब्दुल बाकी के पास काल-कवलित होने से बच गए कुछ 'अशआर' मिल गए जो गुरुजी ने 'गुरु' उपनाम से लिखे थे। ये प्रतिनिधि रचनाओ मे सकलित है।

गुरुजी की 'उर्दू' रचनाओ मे तत्कालीन परम्परागत विषय सदाचार, प्रेम, दर्शन आदि ही होते थे पर पन्नालाल श्रीवास्तव 'नूर' के शब्दो मे "यद्यपि ये गुरुजी की प्रारम्भिक रचनाएँ हैं परन्तु प्रौढता और काव्य-सौष्ठव में किसी 'उस्ताद' की रचनाओ से कम नही"।

यह उर्दू अध्याय अल्पकालीन ही रहा और शीघ्र ही गुरुजी हिन्दी के द्विवेदी युग के एक प्रमुख साहित्यिक के रूप मे उभरे जबकि भाषा को स्वरूप प्रदान करने, निखारने और सँवारने का कार्य सम्पादित किया जा रहा था। उस काल मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का मत्र 'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल' उपलब्ध था और इसे जगाने के लिये आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का सम्यक् मार्गदर्शन मिल गया।

गुरुजी की अभिव्यक्ति साहित्य की अनेक विधाओ मे प्रवाहित हुई काव्य, नाटक, उपन्यास, निबन्ध, आलोचना, आचारशास्त्र, व्यग, भाषाशास्त्र, किशोरसाहित्य और व्याकरण उसके प्रवाह के क्षेत्र रहे। डा श्रीमती सुमन

मिश्र और डा रामशकर मिश्र ने 'आचार्य प कामताप्रसाद गुरु की साहित्य साधना' शीर्षक अपने लेख मे उक्त विषय पर विचारयुक्त विवेचना और गभीर गवेषणा प्रस्तुत की है ।

गुरुजी रससिद्ध कवि थे । 'बेटी की बिदा' और 'बहू की अगवानी' शीर्षक रचनाओ मे स्नेह और वात्सल्य की लहरें उठाती हुई जब वियोग और सयोग की धाराएँ प्रवाहित होती हैं तब वे मिलजुल कर रसतीर्थ का निर्माण करती है। रसतीर्थ के पवित्र जल मे अवगाहन कर अनगिनत जनो ने निर्मलता प्राप्त की है, आगे भी करते चले जायँगे ।

गुरुजी की काव्य-विधा भी विविधा है। ऐतिहासिक कथाओ को वीर गाथाओ मे प्रस्तुत किया है। शक्तिशाली मुगल बादशाह अकबर की साम्राज्य विस्तार की नीति मे जूझनेवाले रणबाँकुरो और बलिदानियो की कहानी भाव-प्रवणता मे बखानी है। उनके युद्ध-वर्णन मे 'वीर' की उद्भावना है। प्रतिनिधि रचनाओ मे 'चाँद बीबी' सकलित है।

बाल या किशोर साहित्य मे 'जन्मभूमि' मातृ-भू के प्रेम मे ओतप्रोत सशक्त रचना है। भावप्रवणता और छन्द-प्रवाह अप्रतिम है। भाषा सहज और बालहृदय मे पैठने वाली है। प्राथमिक स्तर पर मैंने और मेरे अनेक साथियो ने इसे पाठ्यपुस्तक मे पढा और तब ऐसे सस्कार जागे कि आगे चलकर अनेको ने स्वातन्त्र्य सग्राम मे डटकर भाग लिया।

गुरुजी की आयु का आखिरी हिस्सा दुख भरा गुजरा । उनकी अन्तिम कविता 'अश्रुपात्र' है। उर्दू-शैली मे जिसे आँसुओ से दामन तर करना कहेंगे उसे कवि ने अश्रुओ मे जीवन-पात्र भरना कहा हैं। इसमे जीवन की असफलताओ की करुण अभिव्यक्ति है। ऐसी स्थिति मे कदाचित् भवभूति को 'एकोरस करुण एव' की निष्पत्ति पर पहुँचना पडा होगा। आत्मकथ्य होकर भी कवि ने अपने अवभरे अश्रुपात्र को पूरा भरने के लिये जनजन से अश्रुओ की माँग की है और उनकी सहानुभूति अर्जित की है। अन्त मे इस 'अश्रु-पात्र' को अपनी आराध्या 'सरस्वती' मा के समक्ष धरने को कहा है। गीता के आर्तभक्त का यह आत्मनिवेदन जीवन के कलुष को प्रक्षालित करता है।

काव्य रचनाएँ छन्द-नियामक सीमाओ के भीतर अनुशासित किन्तु

सहज प्रवाहित है। भाषा भावानुगामिनी है और उसके परिमार्जन का उद्देश्य भी कवि के दृष्टि से ओझल नहीं हुआ।

'सुदर्शन' गुरु जी की नाट्य कृति है। कथानक पौराणिक है। सत्ता के लिये होने वाले षडयन्त्रपूर्ण संघर्ष मे धीरोदात्त नायक सुदर्शन के आदर्शों की विजय होती है। नाटक की समाप्ति जिस भरत वाक्य से होती है उसकी अन्तिम पंक्तियाँ है

> 'रहे लोग हिलमिल सदा घात परस्पर त्याग दें।
> जिसका हो जितना जहाँ उसे वहाँ भूभाग दें॥"

उक्त पंक्तियाँ देश मे तत्कालीन अन्याय पूर्ण भूस्वामित्व की स्थिति की ओर संकेत करती है और कदाचित् आज के न्यायसंगत भूमि वितरण के कार्यक्रम का पूर्वानुमान भी करती है।

'देशोद्धार' गुरु जी का देशभक्ति पूर्ण निबन्धो का संग्रह है। उन्होंने मत व्यक्त किया है कि जन सेवा का कोई भी कार्य चुन कर उसमे प्राणपण से जुट जाना ही देशोद्धार का काम करना है। इन निबन्धो मे रचनात्मक कार्य-क्रमो और उन्हे सफल बनाने के लिये व्यक्ति मे आवश्यक गुणो का उल्लेख है। 'हिन्दुस्थानी शिष्टाचार' मे नैतिक आधारो पर पीढी के चरित्र-निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया है।

उक्त के साथ गुरु जी ने अपने करने के लिये प्रमुख रूप से जो चुना वह भाषा-रचना का कार्य था। इस विषय पर लिखे गए निबन्धो मे स्पष्ट किया गया है कि इस दिशा में किये जाने वाले प्रयत्न हिन्दी को राष्ट्रभाषा पद पर प्रतिष्ठित कर सकेंगे। उनका यह मत भी था कि एक राष्ट्रभाषा का होना राष्ट्र मे एकता प्रतिस्थापित करेगा। इस प्रकार गुरु जी का सारा गद्य-पद्य लेखन राष्ट्रीय चेतना का साहित्य है।

परन्तु इस कार्य ने शिखर तब छू लिया जब भाषा को एक सर्वांगपूर्ण व्याकरण की आवश्यकता हुई और नागरी प्रचारिणी सभा के प्रस्ताव पर गुरु जी ने व्याकरण रचना स्वीकार कर लिया। उसी दिन उन्होंने अपनी समस्त साहित्यिक विधाएँ व्याकरण-रचना को ही समर्पित कर दी, सभी प्रयत्न और सारा समय इसी साधना मे लगा दिया। अनेक वर्षों बाद व्याकरण रचना का कार्य सम्पन्न हुआ।

जब व्याकरण प्रकाशित हुआ तो देशविदेश के विद्वानों ने इसकी मुक्त कं० से प्रशंसा की। देश में यह मूल्यांकन हुआ कि 'हिन्दी के महासमुद्र में प्रकाशस्तम स्थापित हुआ' जिसके सहारे यात्री अपनी नावों को सही दिशा की ओर ले जा सकेंगे। विदेश में इस बात की प्रसन्नता व्यक्त हुई कि उन्हें हिन्दी भाषा को सीखने का माध्यम मिल गया।

जब भारत स्वतंत्र हुआ तब गुरु जी जीवित थे। अतएव वे यह प्रतीति तो कर पाए कि जिस अर्थ उन्होंने समर्पित जीवन जिया वह भाषा तो राष्ट्रभाषा बनेगी ही पर यह नहीं देख पाए कि हिन्दी की गणना विश्व की प्रमुख भाषाओं में होगी और उनका व्याकरण अन्य राष्ट्रों से मैत्री स्थापित करने का कारण बनेगा।

सोवियत भूमि के विद्वान डा० प्योत्र बारान्निकोव द्वारा अनूदित पं० कामता प्रसाद गुरुकृत हिन्दी व्याकरण के रूसी संस्करण की भूमिका में प्रोफेसर लारिन ने लिखा ..."हम आशा करते हैं कि इस ग्रंथ का प्रस्तुत अनुवाद हिन्दी साहित्य के पाठकों पर प्रकाश डालेगा। इसके साथ ही अन्य भारतीय भाषाओं के अध्ययन तथा भारतीय संस्कृति के ज्ञान के लिये भी लाभदायक सिद्ध होगा। सोवियत लोगों में भारत के प्रति अत्यधिक प्रेम है। इस ग्रंथ का रूसी अनुवाद भारत और सोवियत में पारस्परिक मेलजोल और महत्वपूर्ण घनी मित्रता स्थापित करेगा . . . ।" गुरुजी का समग्र साहित्य और उनकी व्याकरण रचना हम इस परिप्रेक्ष्य में देखें और राष्ट्रभाषा और भारत-राष्ट्र की गौरव-वृद्धि में उनके कृतित्व के योग-दान का मूल्यांकन करें।

भवानीप्रसाद तिवारी

व्यक्तित्व और कृतित्व

हमारे पिता-श्री

—श्री रामेश्वरप्रसाद गुरु

कामताप्रसाद गुरु सागर शहर के परकोटा-वार्ड मे चतुर्भुज घाट के किनारे पैतृक-मकान मे पैदा हुए थे।

जन्म हुआ था २४ दिसम्बर १८७५ की मध्य रात्रि के पश्चात्।

पिताजी के पूर्वज दो सदी पूर्व उत्तरप्रदेश से आकर सागर मे बस गये थे। पूर्वज देवताराम पाडे संस्कृत और ज्योतिष के विद्वान थे। सागर के दागी राजघराने मे रानियो को दीक्षा देने के कारण पाडे के स्थान पर गुरु लिखा जाने लगा। कामताप्रसाद गुरु पाँचवी पीढी के प्रतिनिधि थे। उनके समय तक आशिक रूप मे दीक्षा की रस्म-अदायगी चलती रही और माफी की जमीन का अधिकार रहा आया।

पिताजी की पूरी शिक्षा सागर मे हुई। सागर हाई स्कूल मे उनके हेडमास्टर थे मुहम्मद खा। उनके गुरुओ मे प्रमुख थे श्री विनायकराव जी, जिनके प्रति उनकी श्रद्धा-आस्था जीवन पर्यन्त बनी रही। बहुत कुछ प्रेरणा

साहित्य-क्षेत्र में इनको गुरुओं से ही मिली। प्रारम्भ में उनकी रुचि उर्दू की ओर रही और कन्नौज का प्रसिद्ध उर्दू रिसाला "पयामे-आशिक" उनके शेर बड़ी प्रशंसा के साथ छापता रहा। यह क्रम कई वर्षों तक चला। विनायकरावजी और उनके अनन्य मित्र हनुमानसिंह के आग्रहपूर्वक कहने और जोर देने पर हिन्दी की ओर झुकाव बढ़ा और फिर बढ़ता ही गया। विनायकराव जी की "व्याख्या-विधि" पुस्तक ने पिताजी को व्याकरण क्षेत्र में लाने का परोक्ष प्रोत्साहन दिया।

मैट्रिक की परीक्षा १८९३ में पास कर वे वहीं हाईस्कूल में शिक्षक हो गये। शिक्षक-जीवन में भाषा को मानक रूप देने की दिशा में उनका प्रयत्न निरन्तर रहा और लेखों के माध्यम से वे व्याकरण के मूलभूत नियमों और सिद्धान्तों की ओर हिन्दी भाषियों और हिन्दी प्रेमियों का ध्यान आकर्षित करते रहे। यह व्याकरण-प्रेम उनकी साहित्य-साधना का प्रमुख रूप बना और उनका कवि, लेखक, निबंधकार, आलोचक एक प्रकार से गौण बन गया। उनके व्याकरण-प्रेम को असाधारण सहयोग और प्रेरणा-स्नेह देने में पिताजी को अनेक गुरुजनों, सुधियों और साहित्यिक-मित्रों का हाथ रहा। माधवराव सप्रे, विनायकराव जी, लज्जाशंकर झा, नंदलाल दवे, महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, रघुवरप्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दरदास आदि उन्हें प्रोत्साहित करते रहे। भाषा-वाक्य पृथक्करण से उनका व्याकरण साहित्य आरंभ हुआ और हिन्दी के वृहत् व्याकरण से उसकी समाप्ति हुई। निबंध तो उनके व्याकरण विषयक निकलते ही रहे और हिन्दी को राष्ट्र-भाषा का मूर्त्त रूप देने में वे सजग प्रहरी की भाँति अंतिम समय तक कार्यरत रहे।

शिक्षा विभाग में उनने ३४ वर्ष नौकरी की। १९२८ में वे सेवा-निवृत्त हुए। सहायक शिक्षक के रूप में शिक्षा विभाग में आये और इसी पद से अवकाश ग्रहण किया। नार्मल स्कूल और शासकीय हाईस्कूल में उनका शिक्षण-कार्य रहा। सागर, रायपुर, सबलपुर और जबलपुर में। उन्हें अवसर बहुत मिले पर अपनी स्पष्टवादिता और साहित्य-प्रियता के कारण इन अवसरों का अनुकूल लाभ नहीं उठा सके। राजकुमार कालेज में उन्हें हिन्दी अध्यापक के लिए चुना गया पर वे नहीं गये। उड़ीसा की रियासतों में स्कूलों के डिप्टी इन्स्पेक्टर होकर गये पर कुछ ही समय बाद लौटकर चले आये।

उडीसा-क्षेत्र का अल्प जीवन उनके लिए साहित्यिक दृष्टि से लाभप्रद अवश्य रहा। उडिया भाषा का गहन ज्ञान प्राप्त करना बहुत बडी उपलब्धि रही। पार्वती और यशोदा नाम से उनने उडिया के प्रसिद्ध स्त्रियोपयोगी उपन्यास का अनुवाद किया। जस्टिस शारदाचरण मित्र के देवनागर मे उडिया भाषा के कुछेक निबंध भी उनके निकले। नार्मल स्कूल में हिन्दी भाषा-अध्यापन, शिक्षण पद्धति तथा सवर्वित विषयो मे उनकी दक्षता की भूरि-भूरि प्रशंसा हुई। उनके सहयोगी और शिष्य हिन्दी साहित्य क्षेत्र मे सुयश के भागीदार हुए शालग्राम द्विवेदी, हरिदत्त दुबे, जहूरबख्श, स्वर्ण सहोदर, अमृतलाल दुबे, नर्मदाप्रसाद मिश्र, नर्मदाप्रसाद खरे। अनुशासन-प्रियता, आडम्बरहीनता, ममयशीलता और स्पष्टवादिता उनके शिक्षक-जीवन के अनुकरणीय विशिष्ट गुण थे जिनकी स्पष्ट छाप उनके सम्पर्क मे आये व्यक्तियो और शिष्यो पर पडी।

शिक्षक-जीवन की लबी अवधि मे दो बार पिताजी साहित्य-क्षेत्र मे प्रयोगात्मक रूप से जीविका के लिए छुट्टी लेकर गये। नये अनुभव हुए, साहित्यिक जीवन के प्रचुर अनुभव हुए, अनेक साहित्यिको का सम्पर्क मिला पर स्वभाव से शिक्षक जीवन मे ही अनुकूलता पाई और वे छुट्टी समाप्त होने के पूर्व ही अपने जबलपुर के नार्मल स्कूल और माडल हाई स्कूल मे लौट आये। नागपुर गये हिन्दी ग्रथमाला मे कार्य करने और परोक्ष रूप से हिन्दी केसरी मे सहयोग देने और प्रयाग गये सरस्वती और बालसखा का सपादन भार समालने। नागपुर जाने मे आग्रह था परम हितैषी श्री माधवराव सप्रे का और प्रयाग बुलाने मे आग्रह-प्रेरणा थी आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की। इन दो प्रयासो का साहित्यिक लाभ अत्यधिक प्रभावशाली और स्थायी रहा। उस समय के प्रमुख साहित्य-सेवियो से अभिन्नता तो हुई ही, साथ ही पिताश्री को अपनी साहित्य-पूजा के लिए पर्याप्त सामग्री भी मिली जिसके बल पर वे व्याकरण-आराध्य को प्रसन्न कर सके। लक्ष्मीधर वाजपेयी, जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, लल्लीप्रसाद पाडेय, देवीदत्त शुक्ल, देवीप्रसाद शुक्ल, डॉ मुजे आदि से निकट की आत्मीयता इन अवसरो पर हुई। १९१४ मे लखनऊ हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन मे सम्मिलित हुए जहां मनोनीत सभापति श्रीधर पाठक से व्याकरण विषयक चर्चा हुई और खुले अधिवेशन मे व्याकरण और हिन्दी पर अपना चिन्तनपूर्ण लेख पढा। १९१६ मे जबलपुर के सप्तम हिन्दी

साहित्य सम्मेलन का कार्य बड़ी लगन के साथ सहयोगियों के साथ किया और व्याकरण की महत्ता पर अपना निबंध पढ़ा। उन दिनों महावीरप्रसाद द्विवेदी और माधवराव सप्रे के समर्थन पर नागरी प्रचारिणी सभा ने व्याकरण लिखने का गंभीर उत्तरदायित्व पिताश्री को सौंप दिया था जो वे अपने व्यस्त जीवन में कई घंटे देकर पूरा करते जा रहे थे। लगातार सात वर्षों के अथक परिश्रम ने उन्हें स्वास्थ्य की कीमत पर अभूतपूर्व सफलता दी। सभा की व्याकरण संशोधन समिति ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की और सभा द्वारा प्रकाशित व्याकरण का हिन्दी जगत ने खुले दिल से स्वागत किया। उन्हें व्याकरणाचार्य कहा गया, हिन्दी के पाणिनी की संज्ञा दी गई, साहित्य वाचस्पति की उपाधि दी गई, सभा के हाथों अभिनन्दित हुए और म० प्र० शासन के शिक्षा विभाग ने सार्वजनिक रूप से उनका स्वागत कर स्वर्ण-पदक प्रदान किया। प्रस्ताव था कि वे राय बहादुर के खिताब से विभूषित हों पर पिताश्री का सौजन्य इसे स्वीकार करने में असमर्थ रहा।

पिताजी की शिष्टाचार समर्पित व्यवहार कुशलता आदर्शमयी थी— यहाँ तक कि उसमें निहित स्पष्टवादिता और सामाजिक शिष्टता दोनों को कटु प्रतीत होती थी। कई उदाहरण दिये जा सकते हैं जो इस कथन और तथ्य के साक्षी हैं। मई-जून की चिलचिलाती धूप में बिना पूर्व सूचना के किसी के घर आकर विश्राम करते हुए व्यक्ति को जोर-जोर से पुकार कर जगाना उनके लिए असह्य था। नीति संबंधी नियमों का पालन वे सैद्धान्तिक रूप में करते थे। "हिन्दुस्थानी शिष्टाचार" उनकी इन आदर्शों की पुस्तक है। यह हिंदी में अपने ढंग की प्रथम पुस्तक है। उनके नीति विषयक निबंध भी उनके जीवन के इन्हीं दृष्टिकोणों के प्रतिबिम्ब हैं। अपने जीवन-संध्या-काल में भी वे नीति-धर्म के अनुसार कार्य करते रहे और संस्कृत के सुभाषित अनदिन करते रहे।

पिताजी का आतिथ्य-प्रेम परम अनुकरणीय था। घर आये अतिथि की देखरेख वे परम आत्मीयता के साथ करते थे। चिन्ता रही आती थी कि मिलने आये सज्जन को किसी प्रकार की असुविधा न हो, उन्हें यह आभास न हो कि उपेक्षा हो रही है। जो कुछ शिष्टाचार की पुस्तक में लिपिबद्ध किया है, उसका अक्षरशः पालन कार्यरूप में हो— नलिनी मोहन सन्याल, किशोरीदास

वाजपेयी, रामचन्द्र वर्मा, मैथिलीशरण गुप्त, सत्यनारायण गुप्त, जगन्नाथप्रसाद भानु, बल्देवप्रसाद मिश्र, मुंशी अजमेरी घर पर पधारे और कितनी आत्मीयता से पिता-श्री मिले यह अभी तक पुलकित यादें लिये हैं। मैथिलीशरण गुप्त के आगमन पर तो उनने कवि-स्वागत कविता लिखी थी। सत्यनारायण कवि-रत्न आये, नार्मल स्कूल में मिलने गये, एक चिट भेजी है 'आयो है तुव दरस को सत्यनारायण नाम।' वाहर आये, बैठने को स्टाफ रूम में कहा, पीरियड पूरा किया, सुप्रिटेंडेंट से अनुमति ली और घर लिवा लाये और दिन भर साहित्य-आनन्द में दोनों डूवे रहे।

पिताजी पूरे अर्थों में गृहस्थ थे—परिवार की चिन्ता गहनतम रही आती थी। वीमारी चिन्ता में डाल देती थी। आर्थिक सन्तुलन के लिए रात-दिन परिश्रम करते थे। सन्तान की चिंता पूरी रहती थी। अध्ययन-अध्यापन के वीच समय निकाल कर वडे परिवार की देखरेख करते थे। एक कारण यह भी था जिसके कारण वे वाहर पदोन्नति पर नहीं गये और सन्तोषवृत्ति में अपना जीवन विताया। पाँच पुत्र और एक कन्या भरे पूरे परिवार में चिन्ता घर किये हुए थी। कनिष्ठ पुत्र ज्ञानेश्वर का अल्पायु (१८ वर्ष) में देहान्त हो गया। ज्येष्ठ पुत्र जागेश्वर अत्यधिक मेधावी तथा कुशाग्रवुद्धि- निराशाओं और जीवन-पथ की असफलताओं में घिरे रहे। शरीर पिता-श्री का रोग-ग्रस्त था, मधुमेह से जर्जर था, हृदय रोग भी था। जीवन सफर इन वाधाओं और चिन्ताओं में ७१ वर्ष, १० माह, २४ दिन चल सका।

उर्दू, हिन्दी, अंग्रेजी और उडिया के पूर्ण ज्ञाता और लेखक थे। व्याकरण के तुलनात्मक अध्ययन के लिए मराठी, गुजराती और वगला भी सीखी। यह उपलब्धि उनकी लगन की द्योतक हैं। अंग्रेजी में उनके आलोचनात्मक लेख इण्डियन एजुकेशन और जवलपुर टाइम्स में छपते थे। आलोचक तीखे और निष्पक्ष थे। साहित्यिक संगठनों में सक्रिय भाग लेते थे, पर पद लिप्सा से जीवन भर दूर रहे। लतावत् जीवन उनने जीना जाना नहीं। सम्पर्क में वडो-वडो के आये पर आत्माभिमान का संकीर्ण पथ चलना ही उनने सीखा—राजपथ से दूर, वहुत दूर रहे।

पत्र व्यवहार की तत्परता और निपुणता पिता-श्री की अनुकरणीय तो थी ही विलक्षण भी थी। क्या मजाल कि पत्रोत्तर में कोई वात छूट जावे।

सुवाच्य लिपि, सरल भाषा और गम्भीर विषय । भाषण-कला में भी वे निपुण थे । सम्भाषण में शिष्टाचार वे पूरी तरह अपनाते थे, उनके साहित्यिक संस्मरण अनेक हैं । रोचक और स्मरणीय श्रीधर पाठक के साथ जो उनका कवितावद्ध साहित्यिक विवाद चला वह प्रयाग-समाचार मे इतना व्यापक बना और उसने इतना तूल पकड़ा कि आचार्य द्विवेदी जी को प्रयाग आकर मेल-मिलाप के बीच समाप्त करना पड़ा । इसी प्रकार मैथिलीशरण गुप्त से हिन्दी कविता की भाषा विषय पर कई दिनों तक विवाद चला । अद्वितीय सस्कृत मनीषी अम्बिकादत्त व्यास की शतावधानी विलक्षणता का जिक्र पिता-श्री बड़ी श्रद्धा के साथ करते थे ।

पिताजी मध्यम कद के व्यक्ति थे, न स्थूल, न दुर्बल । प्रातःकाल जल्दी उठना, सन्ध्या समय नियमित घूमना, अल्पाहार करना, आचार-विचार में किसी सीमा तक रूढ़िवादी, वेशभूषा अत्यन्त सादी और सादगीपूर्ण, वार्तालाप में शिष्टभाषी और सयत, नियम से पैसे-पैसे का हिसाब रखना । कागज पत्र सजोकर तारीखवार सुरक्षित रखना और आय का समुचित उपयोग करना, फिजूलखर्ची कतई नही पर कृपणता से कोई नाता नहीं । इनमे से लगभग सभी गुण उन्होंने अपने साहित्यिक प्रेरक महावीर द्विवेदी से लिये थे, श्री विनायकराव की गुरु-शिक्षा भी उनने जीवन मे उतारी थी ।

उनके जीवन मे उनका ही अपना लिखा दोहा बहुत कुछ सार्थकता लाया।

उदय-अस्त मे एक-सा है जिसका व्यवहार
वही मित्र सूरजमुखी कर सकता है प्यार ।

बिहारी और पद्माकर पिता-श्री के सर्वप्रिय कवि थे । उनके अनेक कवित्त उन्हें कण्ठाग्र थे । उर्दू मे गालिब और अकबर, अंग्रेजी मे ग्रे और टेनीसन, तथा उड़िया मे राधानाथ की कवितायें उन्हे कण्ठस्थ थीं । सस्कृत के सुभाषित वे अवकाश के समय हिन्दी मे अनुवाद करते रहते थे, हिन्दी रीडरो के लेखन मे वे अपने समय के सफल सकलनकर्ता थे और प्रकाशको के लिए उन्होंने समय-समय पर विभिन्न रीडरें तैयार भी की । पद्य-समुच्चय अपने समय मे हाई स्कूल के लिए स्टैंडर्ड सकलन समझा जाता था ।

पिता-श्री का साहित्यिक मूल्यांकन और उनकी साहित्यिक सेवाओ का निष्पक्ष आकलन कई कारणो से साहित्य-इतिहास मे नही हो सका। वे केवल व्याकरण-मनीषी के रूप मे जाने गये, माने गये और प्रतिष्ठित हुए।

उनकी जन्म शती पर हिन्दी प्रेमियो, हिन्दी-भाषियो के साथ परिवार-जनो के श्रद्धा-प्रणाम।

|■|

आचार्य द्विवेदी और प० माधवराव सप्रे की प्रेरणा से, १६१५ के आसपास ना० प्र० सभा काशी ने गुरुजी को हिन्दी-व्याकरण लिखने का काम सौंपा। कहना कठिन है कि ऐसा क्यो हुआ? क्या दूसरे विद्वान इस बखेड़े मे नहीं पड़ना चाहते थे या कि इसके लिए गुरुजी को ही एक मात्र योग्य व्यक्ति समझा गया? उनकी इस योग्यता का पता सभा को कैसे लगा? जो भी हो इसमे संदेह नहीं गुरुजी ने यह काम कर्तव्य बुद्धि और पूरी निष्ठा से किया। उनकी यह निष्ठा राष्ट्रीय चेतना से जुड़ी हुई थी। क्योंकि उनका विश्वास था, कि राष्ट्रीय अनुशासन के लिए भाषा का अनुशासन पहिली शर्त है। भाषा के अनुशासन के लिए उस पर व्याकरण का अंकुश चाहिए। वे लिखते हैं "हिन्दी के स्वराज्य मे अहंमन्य लेखक बहुधा स्वतंत्रता का दुरुपयोग किया करते हैं और व्याकरण के उचित आदेशों को भी पराधीनता मान लेते हैं। .ऐसी अवस्था मे केवल स्वतन्त्रता के आवेश से वशीभूत होकर शिष्टभाषा पर विदेशी भाषाओं अथवा प्रांतीय बोलियो का अधिकार चलाना एक प्रकार की राष्ट्रीय अराजकता है।" कवि सुलभ निरकुशता के आधार पर, एक सीमा के बाद गलत भाषा लिखने वालों को वे छूट देने के विरुद्ध थे। क्योंकि प्रयोगो को देखकर व्याकरण नहीं लिखा जा सकता। अत उनकी शब्द साधना उनकी राष्ट्रीयता का ही एक आयाम थी।

—डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन

आचार्य कामताप्रसाद गुरु और उनका हिन्दी व्याकरण

डॉ. राजेश्वर गुरु

बीसवीं शती आँखें खोल चुकी थी। प्रयाग से 'सरस्वती' का प्रकाशन आरम्भ हो गया था। पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी का हिन्दी के मंच पर पदार्पण हो चुका था।

यह भाषा परिष्कार का समय था। खड़ी बोली में पद्य लिखने का प्रारम्भ अभी अभी हुआ था, गद्य की रचनाओं का क्रम अवश्य पचास वर्ष पूर्व प्रारम्भ हो चुका था। भारतेन्दु के पूर्व हिन्दी खड़ी बोली में छुट-पुट रचनाएं निकलीं, भारतेन्दु के साथ यह क्रम निरन्तर चला। अब तक मौलिक एवं अनूदित उपन्यास एवं नाटक प्रचुर संख्या में सामने आ गये थे।

द्विवेदीजी के सामने समस्या थी भाषा के विकास की और भाषा के परिष्कार की। उनकी योजना थी कि खड़ी बोली का प्रयोग गद्य में विविध विषयों की रचना के लिए किया जाय और पद्य रचना के लिए भी

इसका प्रयोग किया जाय। वे खडी बोली की साहित्यिक प्रतिष्ठा स्थापित करने मे लगे थे।

जिस समय प्रयाग मे बैठकर पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी अपने ढग से हिन्दी की सेवा मे सलग्न थे, मध्यप्रदेश के पिछडे इलाके के रायपुर-जबलपुर-नागपुर नगरो मे पडित कामताप्रसाद गुरु अपने ढग से हिन्दी का काम कर रहे थे। उनके सामने उद्देश्य तीन थे – हिन्दी निर्भीकता पूर्वक राष्ट्रीय विचारो की वाहक बन सके, हिन्दी मे पाठ्यक्रमो मे निर्धारित किये जाने योग्य सामग्री लिखी जाय और तीसरा किन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण उद्देश्य था कि हिन्दी का इस प्रकार नियमन किया जा सके कि उसका प्रयोग करने वालो के लिए किसी प्रकार की उछृखलता के लिए गुजाइश न रह जाय। यह काम अपने क्षेत्र मे पडित महावीर प्रसाद द्विवेदी भी कर रहे थे। "सरस्वती" के लिए सामग्री का चयन वे बडे ध्यानपूर्वक करते थे और आये हुए प्रत्येक लेख की भाषा मे अपने विवेक के अनुसार सशोधन एव परिष्कार करते थे। वे बडे सतर्क सम्पादक थे। यहाँ-वहाँ निकलने वाली सामग्री पढकर उसे लिखने वाले को सरस्वती मे लिखने के लिए प्रोत्साहित एवं आमन्त्रित करते थे। उस समय सरस्वती मे लेख छप जाना बडे सम्मान की बात समझी जाती थी। इसलिए जब उन्होने पडित कामता प्रसाद गुरु के अनेक पत्र-पत्रिकाओ मे निकलने वाले लेखो को देखा, और उन्हे सरस्वती मे लिखने के लिए आमन्त्रित किया तो यह गुरुजी के लिए सचमुच बडे सौभाग्य का विषय था। उन्होंने द्विवेदी जी का निमत्रण बडी विनय के साथ स्वीकार कर लिया और वे सरस्वती मे भी लिखने लगे। गुरुजी के लिए अतिरिक्त सौभाग्य का विषय यह था कि जहाँ द्विवेदी जी अन्य आई हुई सामग्री पर विस्तार से अपनी सशोधन की कलम चलाते थे, वहाँ गुरुजी के लेखो मे सशोधन करने की बहुत आवश्यकता नही होती थी।

आचार्य कामताप्रसाद गुरु के लेख व्याकरण विषयक होते थे। व्याकरण उनका प्रिय विषय था। प्रारम्भ से ही वे हिन्दी के सम्बन्ध मे गम्भीरता पूर्वक अध्ययन करते रहे हैं। सन् १९०० मे उन्होने भाषा वाक्य पृथक्करण नाम की पुस्तक लिखी और सन् १९०७ मे बाल बोध व्याकरण। इसके सरस्वती मे भाषा और व्याकरण सम्बन्धी उनके लेख बराबर निकलते रहे।

हिन्दी भाषा के प्रश्न को लेकर गुरुजी सदैव अपना मत निर्भीकता पूर्वक व्यक्त करते थे। द्विवेदीजी जैसे सम्पादक उन्हे मिल गये थे, जो उन्ही के समान निर्भीकता पूर्वक उनके विचारो को सरस्वती मे स्थान देते थे। 'उत्तरप्रदेश की कानूनी हिन्दी' इसी प्रकार का लेख था जिसमे न केवल हिन्दी का पक्ष समर्थन दृढता एव निर्भीकतापूर्वक किया गया था, अपितु शासन की हिन्दी सम्बन्धी नीति की कडी आलोचना की गई थी। अन्य विषयो पर भी जब गुरुजी लिखते थे, तो हिन्दी भाषा सम्बन्धी विचार अनायास आ जाते थे। भारतेन्दु के 'सत्य हरिश्चन्द्र" नाटक की आलोचना के प्रसग मे उन्होंने भारतेन्दु की भाषा के सम्बन्ध मे तर्कपूर्वक अपने विचार व्यक्त किये है।

सरस्वती मे निकले उनके लेखो का अवलोकन करने से स्पष्ट हो जायेगा कि भाषा के विभिन्न पक्षो और अगो पर उनकी दृष्टि विस्तार से गई थी और उन पर उन्होंने गहनता से विचार किया था और इसीलिए जब वे सन् १९१६–१७ मे हिन्दी व्याकरण की रचना मे प्रवृत्त हुए, तब वे बौद्धिक दृष्टि से इस उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य के लिए सर्वथा तैयार थे।

गुरुजी के लिखे सरस्वती मे प्रकाशित कुछ लेखो के शीर्षक नीचे इस दृष्टि से दिये जा रहे हैं कि इनसे यह अनुमान लगाया जा सके कि हिन्दी के प्रश्न पर कितनी विविधता से विचार किया है

(१) हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा और हिन्दी
(२) रोमन लिपि
(३) कानूनी हिन्दी
(४) हिन्दी मे विदेशी अपभ्रश
(५) कुछ चिन्त्य प्रयोग
(६) हिन्दी मे आदरसूचक शब्द
(७) हिन्दी मे प्रत्यक्ष और परोक्ष भाषण आदि।

हिन्दी व्याकरण की रचना के समय तक गुरुजी के व्याकरण के सम्बन्ध मे सामान्यत एव हिन्दी व्याकरण के सम्बन्ध मे अपने विचार स्थिर हो चुके थे। व्याकरण क्या है, इस सम्बन्ध मे अपने विचार व्यक्त करते हुए आचार्य गुरु ने लिखा है

जिस शास्त्र मे शब्दो के शुद्ध रूप और प्रयोगो के नियमो का निरूपण रहता है, उसे व्याकरण कहते है। व्याकरण के नियम बहुधा लिखी हुई भाषा के आधार पर निश्चित किये जाते हैं, क्योंकि उसमे शब्दो का प्रयोग बोली हुई भाषा की अपेक्षा अधिक सावधानी से किया जाता है। व्याकरण वि + आ + करण शब्द का 'भली-भाँति समझाना' है। व्याकरण मे वे नियम समझाये जाते हैं जो शिष्टजनो के द्वारा स्वीकृत शब्दो के रूपो और प्रयोगो मे दिखाई देते हैं।

व्याकरण भाषा के अधीन है और भाषा ही के अनुसार बदलता रहता है। व्याकरण का काम यह नही कि वह अपनी ओर से नए नियम बनाकर भाषा को बदल दे। वह इतना ही कह सकता है कि अमुक प्रयोग अधिक शुद्ध है अथवा अधिकता से किया जाता है, पर उसकी सम्मति मानना या न मानना सभ्य लोगो की इच्छा पर निर्भर है। व्याकरण के सम्बन्ध में यह बात स्मरण रखने योग्य है कि भाषा को नियमबद्ध करने के लिये व्याकरण नही बनाया जाता, वरन् भाषा पहले बोली जाती है और उसके आधार पर व्याकरण की उत्पत्ति होती है। व्याकरण और छद शास्त्र के निर्माण करने के बरसो पहले मे भाषा बोली जाती है और कविता रची जाती है।

व्याकरण के नियमो के सम्बन्ध मे आचार्य ने कहा जिस प्रकार ससार मे कोई भी प्राकृतिक घटना नियम विरुद्ध नही होती, उसी प्रकार भाषा भी नियम विरुद्ध नहीं बोली जाती। व्याकरण इन्ही नियमो का पता लगाकर सिद्धान्त स्थिर करते हैं। व्याकरण मे भाषा की रचना, शब्दो की व्युत्पत्ति और स्पष्टतापूर्वक विचार व्यक्त करने के लिए, उनका शुद्ध प्रयोग बताया जाता है, जिनको जानकर हम भाषा के नियम जान सकते है और उन भूलो का कारण समझ सकते हैं जो कभी-कभी नियमो का ज्ञान न होने के कारण अथवा असावधानी से बोलने या लिखने मे हो जाती है। किसी भाषा का पूर्ण ज्ञान होने के लिए उसका व्याकरण जानना भी आवश्यक है। कभी-कभी तो कठिन अथवा सदिग्ध भाषा का अर्थ केवल व्याकरण की सहायता से ही जाना जा सकता है। इसके सिवा व्याकरण के ज्ञान से विदेशी भाषा सीखना भी बहुधा सहज हो जाता है।

किसी भी सामाजिक वर्ग का सदस्य बहुत बचपन मे ही यह बात जान

लेता है कि उसके समाज मे प्रचलित भाषा, बोली की स्पष्ट सरचना है और यदि उसे अपने समाज की गतिविधियो मे भाग लेना है, तो आवश्यक है कि वह इस सरचना पर अधिकार प्राप्त करे। जब तक वह ऐसा नही करता, वह न तो अपनी बात दूसरो तक पहुँचा सकता है और न दूसरो की बात समझ सकता है। प्रत्येक भाषा की निश्चित व्यवस्था है, यह सरसरी तौर से देखने वाले को भी मालूम हो जाता है। छोटा बच्चा भी इस व्यवस्था से अनजाने ही परिचित हो जाता है और पहले इसके सामान्य एव बाद मे धीरे-धीरे अधिक जटिल लक्षणो को ग्रहण करता चलता है।

भाषा का प्रयोग करने के क्रम मे वह जान लेता है कि उसके वाक्य मे किसी के सम्बन्ध मे कुछ कहा गया है, जो विभिन्न प्रकार के शब्दो द्वारा व्यक्त हुआ है। ये शब्द विभिन्न ध्वनियो के योग से बने हैं और जब इनका वाक्य मे प्रयोग होता है, तो इनमे विकार भी हो जाता है। वह यह भी जान लेता है कि वाक्य मे प्रयुक्त इन शब्दो का एक निश्चित क्रम रहता है। विभिन्न भावो अथवा विचारो को व्यक्त करने मे इस क्रम मे परिवर्तन हो जाता है।

भाषा की इस प्रक्रिया को व्याकरण ध्वनिविज्ञान, रूपविज्ञान और वाक्यविज्ञान के अन्तर्गत अपने अध्ययन का विषय बनाता है। आचार्य गुरु की व्याकरण मे इन्हे वर्णविचार, शब्दसाधन और वाक्यविन्यास के नामो से अभिहित किया गया है। विगत एक शताब्दी मे भाषा विज्ञान के गहन अध्ययन के फलस्वरूप व्याकरण के क्षेत्र मे भी सूक्ष्मता और गहराई आ गई है।

आचार्य गुरु ने जब अपने व्याकरण की रचना प्रारम्भ की थी, तब उनके सामने हिन्दी व्याकरण की बीस पुस्तके उपलब्ध थी, बारह हिन्दी मे लिखी गई और आठ अग्रेजी मे। अब तो अनेक पुस्तको का पता चला है। हिन्दी के प्रारम्भिक व्याकरणो के नमूने भी सामने आ गये हैं। ये नमूने भी सन् १६६८, १७४५ और १७७१ के बाद सन् १८०० मे फोर्ट विलियम कालेज के जान गिलक्राइस्ट ने अग्रेजी भाषा मे हिन्दुस्तानी भाषा का वृहत् व्याकरण लिखा और इसके बाद हिन्दी व्याकरण रचना की परम्परा निर्बाध और निरन्तर चल पडी।

जिस प्रकार पाणिनि सस्कृत व्याकरण के क्षेत्र मे अपने पूर्ववर्तियो की चली आई परम्परा के उज्ज्वलतम विकास-बिन्दु हैं, उसी प्रकार आचार्य गुरु

ने भी अपने समय तक लिखी गई समस्त सामग्री का सावधानी से अध्ययन किया और अपने समय में मिलने वाले भाषा के विभिन्न रूपों के आधार पर हिन्दी भाषा की संरचना का वैज्ञानिक विवरण प्रस्तुत किया। यथार्थतः किसी भी विशिष्ट अवधि में भाषा के तीन प्रमुख रूप विद्यमान रहते हैं, एक वह जो साहित्यिक कृतियों में प्राप्त होता है, दूसरा वह जो सभ्य समाज में प्रचलित रहता है और तीसरा वह जो जन-सामान्य में व्यवहृत होता है। व्याकरण इन तीनों रूपों के तुलनात्मक वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा उनमें मिलने वाली व्यवस्था का अन्वेषण करता है और इन व्यवस्थापक नियमों को वैज्ञानिक शब्दावली में सामने रखता है। उसके लिए आवश्यक होता है कि इन नियमों के मिलने वाले अपवादों का वह सूक्ष्म विवेचन करके उन परिस्थितियों का समाधानकारी ढंग से उल्लेख करें जिनमें ये अपवाद मिलते हैं। आचार्य गुरु ने स्वीकार किया है कि नियमों के स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने जो उदाहरण दिये हैं, वे अधिकतर हिन्दी के भिन्न-भिन्न कालों के प्रतिष्ठित और प्रामाणिक लेखकों के ग्रंथों से लिये गये हैं और अपनी कठिनाई का उल्लेख करते हुए लिखा गया है कि हिन्दी में अनेक उपभाषाओं के होने तथा उर्दू के साथ इसका अनेक वर्षों से सम्पर्क रहने के कारण हमारी भाषा की रचना शैली अभी तक बहुधा इतनी अस्थिर है कि इस भाषण के व्याकरण को व्यापक नियम बनाने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। फिर भी जहाँ पाणिनि ने लगभग चार हजार सूत्रों में अपनी बात कही हैं, वहाँ आचार्य गुरु ने सात सौ छप्पन नियमों के भीतर अपना वक्तव्य समाप्त कर दिया है। पाणिनि के अष्टाध्यायी ग्रंथ की रचना के बाद समय पर उनके नियमों का पुनरध्ययन होता रहा है और भाषा की बदलती हुई स्थितियों में मिलनेवाले नियमों का उल्लेख होता है। गुरुजी का व्याकरण उन्हीं के द्वारा आज से कोई तीस वर्ष पूर्व संशोधित किया जा चुका है। कहा जाता है कि फ्रेंच भाषा का व्याकरण प्रत्येक दस वर्षों में नया हो जाता है। यह सत्य है कि जीवित एवं जीवन्त भाषा में जल्दी जल्दी परिवर्तन होते हैं। फिर हिन्दी की स्थिति विगत तीस वर्षों में जिस प्रकार बदली है, उसे देखते हुए आवश्यक है कि आचार्य गुरु के व्याकरण का विस्तृत ढंग से पुनरध्ययन किया जाय। यों इस प्रकार के अध्ययन की अनेक दिशाओं का उल्लेख स्वयं आचार्य ने अपने ग्रंथ में कर दिया है।

भूमिका में जिन बातों का संकेत किया है, वे ये है।

(१) मेरा विचार था कि इस पुस्तक में विशेषकर कारकों और कालों का विवेचन संस्कृत की शुद्ध प्रणाली के अनुसार करता।

(२) हिन्दी के आदि व्याकरण का पता लगाना स्वतंत्र खोज का विषय था। किन्तु अब व्याकरण का पता लगाया जा चुका है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है हिन्दी का आदि व्याकरण सन् १६९८ में जान जोशुआ केटलर द्वारा प्रणीत किया गया था। लगभग पचास और पच्चीस वर्षों के अन्तर से बेंजामिन शूल्ज और केसियानो बेलिगत्ती की पुस्तकें लिखी गई। ये तीनों व्याकरण पादरियों द्वारा लिखे गये हैं और अपने समय में प्रचलित बोलियों का वर्णन इनमें किया गया है। केटलर की पुस्तक आगरा, शूल्ज की पुस्तक हैदराबाद एवं बेलिगत्ती की पुस्तक पटना में लिखी गई थी। इस प्रकार हिन्दी के पूर्व पश्चिम और दक्षिण में मिलने वाले रूपों के उदाहरण इनमें संग्रहीत हैं। यह आवश्यक है कि सत्रहवीं शताब्दी के अन्त से लेकर बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक हिन्दी के रूपों में किस प्रकार परिवर्तन हुए हैं, उनका वैज्ञानिक अध्ययन किया जाय। दस दस वर्ष बाद मिलने वाले बोलियों और भाषा के रूप श्रीरामपुर के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं।

(३) तीसरी बात जो आचार्य ने कही है, उसका सम्बन्ध ऊपर कही बातों से है। उन्होंने लिखा है इस व्याकरण में एक विशेष त्रुटि रह गई है, कालान्तर ही में दूर हो सकती है, जब हिन्दी भाषा की पूरी और वैज्ञानिक खोज की जायेगी। मेरी समझ में किसी भी भाषा के रूपान्तरों और प्रयोगों का इतिहास लिखना आवश्यक है। यह कार्य अब सुकर है। हिन्दी भाषा की अठारहवीं और उन्नीसवीं शती में मिलने वाले रूप एकत्र किये जा सकते हैं और उनका विस्तार से तुलनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिए।

उपर्युक्त तीन बातों के अतिरिक्त जिन अन्य बातों के सम्बन्ध में आचार्य ने लिखा है, वे ये हैं

(१) शब्दों के भेद शब्दों के वर्गीकरण का वैज्ञानिक आधार।

(२) संज्ञा के भेद।

(३) सर्वनामो की सख्या और उनका वर्गीकरण ।

(४) क्रिया विशेषण का स्वरूप और वर्गीकरण ।

(५) वाच्य और प्रयोग ।

(६) अव्ययो के भेद सम्बन्धकारक का स्वरूप ।

(७) कारक और विभक्ति ।

(८) क्रिया का काल विभाजन ।

(९) समास ।

इन वातो के अतिरिक्त विद्वान लोग अन्य प्रसगो की भी चर्चा करते हैं, जिनमे आज की भाषा-स्थिति को देखकर परिवर्तनो की आवश्यकता है। यथार्थत आचार्य के जीवन काल मे ही इस दिशा मे प्रयत्न प्रारम्भ हो गये थे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने कभी 'लिंग निर्धारण समिति' गठित की थी। इस समिति ने क्या कार्य किया, इसका विवरण उपलब्ध नही है किन्तु यह स्पष्ट है कि हिन्दी व्याकरण को सर्वांगपूर्ण वनाने के लिए व्यक्ति एव सस्था के स्तर पर प्रयत्न वरावर होते रहे हैं।

आज जव हिन्दी व्याकरण के पुनरध्ययन की वात जोर से उठी है, तव उन परिस्थितियो पर विचार कर लेना आवश्यक है, जो सन् १९४७ के वाद देश मे आ गई हैं, और जिन्होने हिन्दी भाषा को वहुत प्रभावित किया है।

सन् १९४७ के वाद देश-विभाजन के साथ हिन्दी क्षेत्र मे पश्चिम और पूर्व के क्षेत्रो से सिन्धियो, पजावियो एव वगालियो का वडी सख्या मे आगमन हुआ। वे अपने साथ अपनी-अपनी भाषा और वोलियाँ लेकर आये। इन विविध भाषाओ और वोलियो के साथ हुए सम्पर्क के कारण हिन्दी का शब्द-भाँडार तो समृद्ध हुआ ही, हिन्दी की उच्चारण-व्यवस्था, वर्तनी-व्यवस्था एव एक सीमा तक सरचना भी प्रभावित हुए विना नही रही। कुछ नये स्वराघात वलाघात के चिह्न भी मिले। लिंग रचना और क्रियाओ के स्वरूप पर भी प्रभाव पडा। आज का हिन्दी व्याकरण इनकी अनदेखी नही कर सकता।

स्वतत्रता के वाद एक और वात घटित हुई। ऐतिहासिक कारणो से

हिन्दी को राष्ट्र की सम्पर्क भाषा स्वीकार कर लिया गया और हिन्दी राजकोज की भाषा बन गई। अब तो हिन्दी पूर्णतया राष्ट्रभाषा हो गई है। नये उत्तरदायित्व के प्रकाश मे आवश्यक है कि हिन्दी का शब्दकोष और समृद्ध हो। नये शब्दो के निर्माण और आगम की प्रक्रिया क्या हो, इस पर वैयाकरण लोग बैठकर विचार कर सकते हैं। साथ ही जो शब्द आ गये हैं, जो नये शब्द गढे गये है, व्याकरण की दृष्टि से उनका अध्ययन एव व्यवस्थापन आवश्यक है।

अन्त मे एक और बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है। अभी तक हिन्दी का व्याकरण हिन्दी भाषियो को हिन्दी का शुद्ध रूप बताने के काम मे आता था। अब उसका उपयोग देश के अन्य भागो मे भाषा-भाषी लोगो मे हिन्दी सीखने के लिए होने लगा है। इन हिन्दी सीखने वालो को हिन्दी व्याकरण के अत्यन्त जटिल नियमो को ग्रहण करने मे कठिनाई होती है। इसलिए आवश्यक है हिन्दी व्याकरण का इस दृष्टि से सरलीकृत रूप भी प्रस्तुत किया जाय।

आचार्य गुरु के जन्म-शती-वर्ष मे भाषा-विद् एव व्याकरण-विद् एव पडितो का ध्यान इन तथ्यो की ओर जायेगा, ऐसी आशा है।

[■]

गुरुजी ने हिन्दी व्याकरण लिखने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। अब भावी हिन्दी विज्ञजन सभव है समधिक उपादेय व्याकरण लिखें।

—मधुमगल मिश्र

आचार्य पं. कामताप्रसाद गुरु की साहित्य-साधना

डॉ श्रीमती सुमन मिश्र
डॉ. रामशकर मिश्र

सन् १९०३ मे आचार्य प० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी ने 'सरस्वती' के सम्पादन का उत्तरदायित्व ग्रहण किया। 'सरस्वती' के माध्यम से द्विवेदी मडल के कवियो तथा लेखको ने हिन्दी भाषा और साहित्य की सवर्धना के प्रयास आरम किये। भाषा-प्रयोग को व्याकरणिक नियमो एव सिद्धान्तो के द्वारा नियन्त्रित और अनुशासित करने का प्रयास किया जाने लगा। इसी प्रकार साहित्य के क्षेत्र मे भी आदर्शवादी-पुनरुत्थानवादी विचार-चिन्तन की प्रस्थापना होने लगी। भारतीय भाषा और साहित्य तथा पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन अनुशीलन का प्रभाव द्विवेदी मडल के समस्त लेखको एव कवियो की सृजन शक्ति तथा रचना-प्रक्रिया पर निरन्तर पडता गया तथा साहित्य के क्षेत्र मे विविधता आई एव अनेक विषय गत, भाव गत प्रयोग आरभ हुए। बीसवी शताब्दी मे द्विवेदी मण्डल के जिन कवियो-लेखको ने भाषा-परिमार्जन तथा साहित्य के विविध रूपो की अभिवृद्धि मे अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया

है, उनमें पं० कामताप्रसाद जी गुरु का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। द्विवेदी युगीन कवियों-लेखकों के सौर मण्डल में केन्द्रीय नक्षत्र के रूप में प्रतिष्ठित होकर पं० कामताप्रसाद जी गुरु ने भाषा और साहित्य के क्षेत्र में निरन्तर सर्जना-कार्य किया तथा हिन्दी भाषा को परिनिष्ठता एवं साहित्य को विविधता प्रदान की। गुरु जी द्वारा निर्दिष्ट आदर्श और उत्थान-पथ पर चलकर द्विवेदी युगीन साहित्य पल्लवित हुआ तथा परवर्ती साहित्य-धारा को विकास की नई नई दिशाएँ मिलीं।

आचार्य पं० कामताप्रसाद जी गुरु ने भाषा और साहित्य के क्षेत्र में प्रयोग तथा सर्जना-कार्य करते समय अपने युगीन सत्य के धरातलों को चित्रांकित किया, पूर्व ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को अपने अध्ययन का आधार बनाया तथा भविष्य की विचार चिन्तन की दिशाओं को दृष्टिगत रखते हुए साहित्य सर्जना की। साहित्य की कोई ऐसी विधा नहीं है, जिसे गुरु जी ने सर्वावित न किया हो। चाहे भाषा का क्षेत्र हो और चाहे साहित्य का। भाषा-परिष्कार तो उन्होंने किया ही, साहित्य में भी अनुशासन केन्द्रित दृष्टिकोण की प्रस्थापना की। उन्होंने काव्य, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, आलोचना, आचारशास्त्र, बालसाहित्य तथा व्याकरण के क्षेत्र में हिन्दी के एक सजग प्रहरी की भाँति हिन्दी के स्वरूप पर भी विचार किया है तथा अपनी निर्भीकता एवं अनुशासनप्रियता का परिचय दिया है। गुरु जी का पाणिनि-व्यक्तित्व इतना भास्वर है कि उनके अन्य साहित्यिक-रूप व्याकरणकार की दृष्टिछाया में पड़ से गये हैं जबकि वे उतने ही महत्वपूर्ण हैं। उनकी साहित्यिक विविधताओं में एक पूर्ण साहित्य-परम्परा के दर्शन होते हैं।

पं० कामताप्रसाद जी गुरु का साहित्यिक जीवन उनकी २० वर्ष की वय से ही आरम्भ हो जाता है जब सन् १८९६ में उनकी एक प्राचीन पद्धति की छोटी काव्य कृति "भौमासुर वध" का प्रकाशन हुआ और संवत् १९९५ में 'सत्य प्रेम' उपन्यास प्रकाशित हुआ। तब से लेकर १९४७ में ७२ वर्ष की आयु तक गुरु जी निरन्तर साहित्य साधना में निरत रहे। इस लम्बी अवधि में उन्होंने भाषा और साहित्य के क्षेत्र में विविध प्रयोग किये। इस अवधि में उन्होंने १५ ग्रंथों की रचना की जो समय समय पर प्रकाशित हुए। ३ पाण्डुलिपियाँ अप्रकाशित हैं। ये ग्रंथ उनकी गद्यलेखन की विभिन्न विधाओं-

नाटक, उपन्यास, निबंध, आचारशास्त्र तथा बालसाहित्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन सुदीर्घ साहित्य-वर्षो मे ही हिन्दी के सर्वमान्य व्याकरण-ग्रथ 'हिन्दी व्याकरण' की रचना हुई जो हिन्दी भाषा और साहित्य की अमूल्य निधि है।

द्विवेदी मण्डल के कवियो मे प० कामताप्रसाद जी गुरु का नाम एक आदर्शवादी, पुनरुत्थानवादी तथा दिशा निर्देशक के रूप मे लिया जाता है। आचार्य प० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने सन् १९०९ मे जब तत्कालीन प्रतिनिधि कवियो का प्रथम सचित्र काव्य-सकलन "कविता कलाप" प्रकाशित कराया उस समय सकलन मे जिन पाँच प्रतिनिधि कवियो को स्थान मिला, उनमे प० कामताप्रसाद जी गुरु भी थे। इस कविता-सकलन मे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, प० नाथूराम 'शकर' शर्मा, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', प० कामताप्रसाद गुरु एव श्री मैथिलीशरण गुप्त की प्रतिनिधि कविताएँ सकलित है। प० कामताप्रसाद जी गुरु एक प्रखर साहित्यालोचक तथा काव्य-चिन्तक थे। 'कविता' की भाषा तथा उसकी काव्य-वस्तु के सम्बन्ध मे उनकी धारणाएँ अपने युग के अन्य चिन्तको से भिन्न थी। वे कविता की उत्पत्ति हृदय से मानते थे, मस्तिष्क मे नही। काव्य मे भावधारा और हृदय के आवेगो का अजस्र प्रवाह होना चाहिए ऐसी उनकी मान्यता थी। किन्तु वे काव्य-भाषा एव काव्य-भावो के प्रयोग तथा अभिव्यजना के प्रति अनुशासनवादी थे। प्रान्तीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन-कटनी-३० दिसम्बर १९३५ को कवि सम्मेलन का अध्यक्षीय भाषण देते हुए उन्होने काव्य के स्वरूपत था काव्य-प्रयोजन की गभीर विवेचना की थी। वे कवि की अभिव्यक्ति मे प्राप्त अलौकिक प्रसन्नता एव मनोरजकता को काव्य का 'आनन्द' मानते थे। द्विवेदी युग के परावर्ती काव्य मे अभिव्यक्त विविध काव्य-वादो की प्रखर आलोचना भी उन्होने की है। छायावाद, रहस्यवाद और मधुवाद (हाला-प्यालावाद) के सम्बन्ध मे विचार करते हुए उन्होने तुलनात्मक दृष्टि से रहस्यवाद की काव्य-प्रवृत्तियो को ग्राह्य माना था। समवर्त दार्शनिक पृष्ठभूमि के कारण ही गुरु जी ने थोडा बहुत इस काव्य-वाद का समर्थन किया है। रहस्यवाद के सम्बन्ध मे उनकी मान्यता थी कि "रहस्यवाद मे कवि सासारिक प्रेम की ओट मे ईश्वर प्रेम की अनुभूति और अभिव्यजना करता है। प्रकृति मे भी वह इसी प्रेमतत्व को खोज करता है और इसी के आधार पर जीव और ब्रह्म का सादृश्य तथा

सम्बन्ध स्थापित करता है। रहस्यवाद की कविता में आत्मविस्मृति और आत्मसमर्पण की पूरी झलक दिखाई देती है, तो भी उसमें भाव-व्यंजन इतना गूढ नहीं होता कि कोई उसे समझ न सके।" गुरु जी ने मधुवाद अथवा हाला-प्यालावाद की कटु आलोचना भी की थी।

काव्य-रचना के क्षेत्र मे भी गुरु जी का दृष्टिकोण आदर्शवादी एव पवित्रतावादी ही रहा है। गुरु जी ने अपनी कविताओं मे अनेक प्रसग एव अनेक वर्ण्य विषय लिए हैं। अतएव उनकी काव्यधारा मे स्वाभाविक विषयगत विविधता परिलक्षित है। विषयगत विविधता की दृष्टि मे गुरु जी की काव्य-सर्जना का अध्ययन भावात्मक, वर्णनात्मक, ऐतिहासिक, नीति काव्य, पौराणिक काव्य, राष्ट्रीय काव्य, व्यग्य काव्य तथा बाल काव्य के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है।

प० कामताप्रसाद गुरु का प्रमुख काव्य-सकलन पद्य पुष्पावली है। इस ग्रथ मे गुरु जी की विविध प्रतिनिधि कविताएँ सकलित हैं। विषय वस्तु की विविधता इन कविताओं मे देखी जा सकती है। चाहे काव्य-भावों का आनन्द लेने वाले काव्य-रसिक हों और चाहे आलोचक, दोनों ही वर्गों के साहित्य साधकों को गुरु जी की इन कविताओं मे अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है। इस काव्य-सकलन मे 'विपत्ति', 'ईर्ष्या' और 'शील' कुछ ऐसी कविताएँ भी सकलित हैं जो मनोविकारों अथवा भाव दशाओं को काव्य वस्तु के रूप मे वर्णित करने हेतु लिखी गई हैं। इस प्रकार की कविताओं मे गुरु जी ने मनोदशाओं का तात्त्विक विवेचन करते हुए काव्याभिव्यजना की है। गुरु जी द्वारा निर्दिष्ट इस काव्य-पथ का अनुगमन गद्य के क्षेत्र मे आचार्य रामचन्द्र जी शुक्ल किया था। 'चिन्तामणि' मे सकलित निबन्ध श्रद्धा और भक्ति, ईर्ष्या, क्रोध, उत्साह, लज्जा और ग्लानि ऐसे ही निबध हैं, जो मनोदशाओं का विवेचन प्रस्तुत करते हैं। गुरु जी के इन काव्य-प्रयोगों से नयी दिशा प्राप्त कर आचार्य शुक्ल जी ने निबन्ध के क्षेत्र मे इस प्रकार के प्रयोग किये थे।

कठोर अनुशासन प्रिय होते हुए भी गुरु जी अत्यन्त सवेदनशील कवि थे। उनकी भावात्मक कविताओं मे 'अश्रुपात्र' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कविता है। यह कृति गुरु जी की अन्तिम कविता मानी जाती है। जीवन के अन्तिम क्षणों

मे उनकी वैयक्तिकता की सचेष्टता एव आत्म निरीक्षण का कितना उज्जवल चित्र 'अश्रुपात्र' कविता मे व्यक्त हुआ है

जीवन भर ये आँखें मानो सावन भादो बनी रही,
सोने मे, सपने मे भी है चिन्ता-बूँदें बहुत नही।
मेरे ये सब अश्रु एक अब भरे पात्र मे हैं एकत्र,
पूर्ण कराने को अपूर्ण घट भेज रहा हूँ मैं सर्वत्र ॥
माता का भी जीवन सुखमय, अन्त समय मे कर न सका,
विधि भी स्वय किसी विधि उनके विविध ताप को हर न सका।
वे भी चली गई सब तज कर रख मेरी आँखो मे रूप,
अब भी दे देती हैं मुझको छायादान हटाकर धूप ॥
(अश्रुपात्र अन्तिम कविता)

आत्म निरीक्षण करते हुए गुरुजी ने अपने जीवन के दुखमय प्रसगो की काव्याभिव्यक्ति इन पक्तियो मे की है। काव्य की रचना की प्रक्रिया के अवसर पर गुरुजी का आचार्यत्व पूर्णत सवेदनशील तथा भावनामय हो जाता था। यही कारण है कि उनके भावात्मक काव्य मे अत्यन्त सहज भावो की अभिव्यक्तियाँ परिलक्षित हैं। गुरु जी की भावात्मक कविताओ मे "बेटी की विदा" एव "बहू की अगवानी" अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इन कविताओ मे पारिवारिक जीवन दुखद-सुखद प्रसगो को लिया गया है। एक निश्चित पारिवारिक आदर्श का स्वरूप इन पक्तियो मे परिलक्षित है।

प० कामताप्रसाद जी ने बालक, सोने की बाली जैसी महत्वपूर्ण वर्णनात्मक कविताओ का सृजन भी किया है। ऐतिहासिक काव्य की रचना मे तो जैसे वे सिद्ध हस्त थे। उनकी ऐतिहासिक कविताएँ—शिवाजी, चाँद-बीबी एव दुर्गावती अत्यन्त प्रसिद्ध कविताएँ हैं। कुछ पौराणिक कविताएँ राम, परशुराम तथा सागर मथन भी लिखी गई थी। उनकी ऐतिहासिक अथवा पौराणिक कविताएँ बाह्य रूप से तो ऐतिहासिक तथा पौराणिक प्रसगो को लेकर लिखी गई हैं किन्तु इन कविताओ मे तत्कालीन युग की राजनीतिक स्थितियो, सघर्षों तथा युग की अवनत सामाजिक सस्थितियो पर अत्यन्त प्रखर व्यग्य किया गया है। जिस प्रकार मराठी साहित्य मे कीचक वध की रचना

का उद्देश्य राजनैतिक स्थितियों के प्रति व्यंग्य करना था उसी प्रकार गुरु जी ने भी अपनी ऐतिहासिक अथवा पौराणिक कविताओं में अपने युग की राजनैतिक स्थितियों पर अत्यन्त तीव्र व्यंग्य किया है। व्यंग्य के इस विधान में प्रतीकों का आश्रय लिया गया है। 'पराधीन-प्रकृति' कविता भी इसी प्रकार प्रतीकात्मक कविता ही है। उनकी एक अन्य कविता 'दासीरानी' वर्णनात्मक काव्य के क्रम में लिखी गई सर्व प्रसिद्ध कृति है।

पं० कामताप्रसाद जी गुरु अपने युग की राजनैतिक दशा के प्रति अत्यन्त सजग थे। मातृभूमि की परतन्त्रता ने उनके कवि व्यक्तित्व को 'व्यंग्य' की ओर उन्मुख कर दिया था। विद्यानाथ शर्मा के छद्मनाम से विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में उन्होंने राजनैनिक विषयों को लेकर अनेक कविताएँ लिखी थी। इन कृतियों का उद्देश्य विशुद्ध राजनैनिक व्यंग्य करना था। गुरु जी ने विशुद्ध राष्ट्रीय भाव प्रधान कविताएँ भी लिखी थी।

द्विवेदी युगीन कवियो ने नीति विषयक कविताओं की रचना भी की है। स्वय आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्री रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण' एव श्री मैथिलीशरण गुप्त ने नीति काव्य की रचना कर आदर्शवादी समाज-रूप का चित्रण किया था। आचार्य पं० कामताप्रसाद गुरु की 'विनय पचासा' मे नीति विषयक कविताएँ ही सकलित हैं। उनकी 'नीति पद्यमाला' अप्रकाशित है जिसमे नीति विषयक रचनाएँ सकलित हैं। उनकी चर्चित कविता 'दीन निहोरा' भी इसी क्रम मे लिखी गई कविता है।

पं० कामताप्रसाद जी गुरु बहु भाषाविद् थे। अंग्रेजी, उडिया, मराठी उर्दू, बँगला आदि भाषाओं का उन्हे ज्ञान था। अतएव उनका रचना-क्षेत्र सीमित न होकर अत्यन्त विशाल हो गया था। उन्होंने अंग्रेजी काव्य की प्रसिद्ध कविताओं का आधार लेकर अनेक कविताएँ लिखी थी। उनकी इन अनूदित तथा अंग्रेजी काव्य पर लिखी गई कविताओं मे टेनीसन कृत 'युलीसीज' के आधार पर 'उल्लासी' ग्रे कृत सानेट के आधार पर 'मित्र-निधन' विलाप, कमनर हॉल की कविता के आधार पर 'प्रेम घात' तथा ग्रे कृत एलेजी के आधार पर 'ग्रामीण विलाप' नामक कविताओं की सर्जना की थी। इन कविताओं मे भी मूल कविताओं का सा आनन्द और सहज भाव है।

गुरुजी ने स्वामी शंकराचार्य कृत 'प्रश्नोत्तर मणिमाला' का हिन्दी पद्यानुवाद भी किया था। उन्होंने बच्चों के लिए बाल कविताओं तथा पाठ्य साहित्य की रचना भी की थी। जिस समय उन्होंने बालकों के लिए कविताओं का सृजन आरंभ किया था उस समय बाल कविताओं में या तो कथात्मकता रहती थी अथवा प्रार्थना-परकता। गुरुजी स्वयं अध्यापक थे, बाल मनोविज्ञान के ज्ञाता। अतएव उन्होंने अपनी बाल-कविताओं में विविधता एवं सहजता भरी। कुछ अभिनयात्मक कविताएँ भी उन्होंने लिखीं। ऐसी कविताओं में उनकी एक प्रतिनिधि रचना 'हमारी छड़ी' है। इस तरह की बाल कविताओं की रचना का उद्देश्य यह था कि वे बालकों के शिक्षण पाठ्यक्रम में सम्मिलित हो सकें। अतएव उनका बाल कविताओं में मनोरंजन के तत्वों के साथ ही चरित्र दृढ़ता एवं राष्ट्रप्रेम की भावना अपने विकसित रूप में दिखलाई देती है। गुरुजी का एक अन्य काव्य ग्रंथ 'विमल बिहारी संग्रह' अप्रकाशित है। इस ग्रंथ में प्रार्थना, प्रेम वर्णन, सुन्दरता वर्णन, ऋतु वर्णन, विरह वर्णन, सज्जन-प्रशंसा, नीच निन्दा, धर्म धारणा, नीति शिक्षा, भक्ति भावना, वैराग्य विवेक आदि खण्डों में बिहारी के दोहों का संकलन किया गया है जिसमें काव्य-संकलन के उद्देश्य एवं वृत्ति का परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

प० कामताप्रसाद जी गुरु ने अपने युग के अन्य लेखकों के अनुरूप नाटक, उपन्यास की रचना भी की है। द्विवेदी युग में जितने भी पौराणिक अथवा अन्य प्रकार के नाटक लिखे गये थे उन सभी में आदर्शवादी विचार-धारा की प्रति स्थापना तथा उन्नयन ही परिलक्षित हैं। गुरुजी का पौराणिक नाटक 'सुदर्शन' इसका उदाहरण है। इस नाटक में गुरुजी की सुधारवादी भावना की उत्प्रेरणा ही दिखलाई देती है। उनके इस दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण परम्परागत पौराणिक कथा-प्रसंग के साथ कुछ नवीन काल्पनिक पात्रों का संयोजन भी किया गया है। तथा कुछ पात्रों के नामों में भी परिवर्तन किया गया है। संभवत ये परिवर्तन-प्रयोग बँगला नाट्य साहित्य में व्यक्त भावोद्रेक एवं कल्पना-प्रचुरता के अनुरूप किये गये होंगे। इस नाटक की सर्वाधिक विशिष्टता यही है कि नाट्य-प्रसंगों में मनोरंजन के लिए शब्द विनोद प्रस्तुत किये गये हैं। ये शब्द-विनोद उनके मौलिक प्रयोग थे। गुरुजी स्वयं एक सफल अभिनेता थे। एक बार उन्होंने चरित्र नायक का अभिनय भी किया

था। तात्पर्य यह है कि वे रंगमंच के शिल्प के पूर्ण ज्ञाता थे और यही कारण है कि उनके 'सुदर्शन' नाटक में नाट्य-शिल्प का अत्यन्त परिपुष्ट रूप परिलक्षित है।

गुरुजी ने सन् १८६५ में 'सत्य प्रेम' नामक उपन्यास की रचना की। उपन्यास लेखन क्षेत्र में भी गुरुजी का आदर्शवादी एवं सुधारवादी दृष्टिकोण ही रहा है। गुरुजी ने जिस युग में 'सत्य प्रेम' उपन्यास की रचना की थी, उस काल में उपन्यास-विधा का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। गुरुजी के उक्त उपन्यास की रचना समाज-सुधार की भावना एवं सामाजिक-जीवनादर्शों के उन्नयन के उद्देश्य से की गई थी। इस उपन्यास-लेखन में औपन्यासिक शिल्प का पूर्ण ध्यान रखा गया है। 'सत्य प्रेम' उपन्यास में गुरुजी ने जिस सामाजिक समस्या को विषय वस्तु के रूप में लिया है, उसे केवल समस्या के रूप में ही रहने नहीं दिया गया अपितु समाधान भी प्रस्तुत किया गया है। इस उपन्यास में 'अन्तर्जातीय विवाह' की एक आन्दोलनकारी समस्या ली गई है और नाट्य शिल्प, नाट्य प्रसंग तथा संधियों में इस समस्या को विकसित करते हुए उन्होंने क्षत्रिय पुत्र नरसिंह तथा वैश्य कन्या यमुना का विवाह सम्पन्न कराकर सामाजिक समस्या का निदान प्रस्तुत किया। एक सुधारवादी तथा आदर्शवादी विचार धारा के पोषक होते हुए भी गुरुजी यथार्थ एवं भविष्य की समाज-धारा के प्रति अत्यधिक सजग रहते थे।

'पार्वती और यशोदा' एक अनूदित उपन्यास भी इस क्रम में उल्लेखनीय है। उड़िया भाषा की मूलकृति 'मालती ओ भाग्यवती' का छायानुवाद यह कृति है। गुरुजी ने इस कृति का अनुवाद करते हुए अनुवाद शिल्प का पूरा-पूरा ध्यान रखा। मूल कृति में व्यक्त विचार धाराएँ उनकी अनुवादित कृति 'पार्वती और यशोदा' में कहीं भी बाधित नहीं हुईं। किन्तु इस अनुवादित कृति में भी गुरुजी का स्वतन्त्र लेखक व्यक्तित्व अवश्य दिखलाई देता है। अनुदान का यह कार्य गुरुजी ने भाषा और साहित्य के माध्यम से राष्ट्रीय एकता की स्थापना' की भावना से उत्प्रेरित होकर किया था।

निबन्ध और आलोचना के क्षेत्र में गुरु जी का अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने जिन निबन्धों की रचना की है, उनकी पृष्ठभूमि में एक

निश्चित आदर्श एव उद्देश्य था उनके लिखे हुए समस्त निबन्ध साहित्य को भाषाशोधन एव भाषा परिमार्जन, साहित्य के विविध रूपो की आलोचना, लेखक परिचय एव पुस्तकालोचना, ऐतिहासिक, समाज सुधार, राष्ट्रीय भावना प्रधान तथा दिनचर्या प्रधान निबन्धो के रूप मे वर्गीकृत कर अध्ययन किया जा सकता है। निबन्ध के क्षेत्र मे भी गुरु जी की आदर्शवादी एव सुधारवादी विचारधारा ही प्रधान रही है। उनके व्याकरणिक निबन्धो मे हिन्दी मे विभक्ति सयोग, हिन्दी रचना मे मतभेद, रोमन लिपि, मुसलमानी हिन्दी, कानूनी हिन्दी, हिन्दी मे विदेशी अपभ्रश, हिन्दी मे आदर सूचक शब्द, हिन्दी मे प्रत्यक्ष और परोक्ष भाषण, अनुस्वार और अनुनासिक, हिन्दी के दुहरे शब्द 'व' का प्रचार, हिन्दी मे विराम चिह्नो का दुरुपयोग, कुछ चिन्त्य प्रयोग, राष्ट्रभाषा और हिन्दी, हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा और हिन्दी, सयुक्त प्रदेश की कानूनी हिन्दी, व्याकरण का प्रयोजन (युगारम्भ गुरु स्मृति अक), हिन्दी मे विवादग्रस्त विषय, हिन्दी नाटक-पात्रो की भाषा, भारत हरिश्चन्द्र, आधुनिक हिन्दी कविता, हिन्दी कविता मे तुकान्त, स्वर्गीय प० महावीर प्रसाद द्विवेदी, स्वर्गीय द्विवेदी के कुछ आदर्श गुण एव बिहारी के विषय मे मत भिन्नता आदि निबन्धो का उल्लेखनीय महत्व है। गुरु जी ने अपने व्याकरणिक निबन्धो मे भाषा की शास्त्रीयता था उसके व्यावहारिक प्रयोग-पक्ष पर अत्यत गभीरतापूर्वक विचार किया है। आज भी व्यावहारिक एव प्रायोगिक व्याकरण के क्षेत्र मे इन निबन्धो की महत्वपूर्ण भूमिकाओ को परखा जा सकता है। गुरु जी ने समाज सुधार सम्बन्धी अनेक निबन्ध लिखे है जो उनके देशोद्धार ग्रथ मे सकलित है। इन निबन्धो मे समाज-सुधार, ग्राम-सुधार, पतितोद्धार, सहयोग और सहकारिता, शिष्टाचार, सेवाधर्म, धनोपार्जन, उद्योग और व्यापार तथा गृहस्थाश्रम, आदि निबन्धो मे देश और समाज की सामाजिक परिस्थितियो को लिया गया है। राष्ट्रीय भावनाओ के उन्नयन के उद्देश्य से भी गुरु जी ने 'देशोद्धार का क्षेत्र, स्वदेश प्रेम, राजभक्ति, राजनीति (राज्यशासन) तथा सैनिक शिक्षा आदि निबन्ध लिखे है। 'आत्म त्याग' नामक निबन्ध की गणना भी इसी क्रम मे की जा सकती है। राष्ट्रीयतावादी भावनाओ से प्रेरित होकर गुरु जी ने इन निबन्धो का प्रणयन किया था। पुरातत्व तथा इतिहास परक विषयो को लेकर भी गुरु जी ने निबन्ध लिखे थे। इस सदर्भ मे उनके एक महत्वपूर्ण निबन्ध 'दन्तेवाडा का

हिन्दी शिला लेख' का उल्लेख किया जा सकता है। गुरु जी ने वर्णनात्मक, विवरणात्मक, भावात्मक तथा आत्मपरक निबन्धों की रचना कर निबन्ध के क्षेत्र में विविध शैलीगत प्रयोग भी किये थे। गुरु जी ने त्रिविक्रम उपाध्याय के छद्मनाम से तत्कालीन अंग्रेजी शासकों पर कठोर व्यंग्य भी किये थे। प्रकाशित 'व्यय कोष की शांति' (त्रिविक्रम उपाध्याय) इसका उदाहरण है। इसी छद्मनाम से उनकी अन्य निबन्ध-कृतियाँ तत्कालीन अन्य पत्रिकाओं में भी प्रकाशित होती रही हैं। साहित्यालोचना के क्षेत्र में गुरु जी ने अलग से किसी आलोचना-ग्रंथ की सर्जना नहीं की किन्तु उन्होंने समय-समय पर साहित्य की विभिन्न विधाओं के सम्बन्ध में अनेक आलोचनात्मक निबन्ध अवश्य लिखे हैं।

पं० कामताप्रसाद जी गुरु का सर्वाधिक चर्चित तथा सर्वमान्य ग्रंथ 'हिन्दी व्याकरण' है। गुरु जी के 'हिन्दी के व्याकरण' के पूर्व सन् १८५७ से सन् १९१८ तक के काल में कुछ छोटे-छोटे हिन्दी व्याकरण लिखे गये थे। किन्तु इन समस्त व्याकरण ग्रंथों की मान्यताओं के सम्बन्ध में विवाद ही बना रहा। उपर्युक्त सभी व्याकरण-ग्रंथों में नियम निर्धारित करते समय मूलतः संस्कृत और अंग्रेजी व्याकरण की प्रणालियों का आश्रय लिया गया था। स्वतंत्र रूप से हिन्दी-व्याकरण की किसी नई विधि का नियमन अथवा प्रतिपादन नहीं हुआ था। द्विवेदी युग में व्यावहारिक प्रयोग की हिन्दी भाषा का जो स्वरूप था, व्याकरण-रचना के समय शब्दों की उस प्रयोगशीलता का ध्यान रखना आवश्यक था। गुरु जी की 'हिन्दी-व्याकरण' की रचना के पूर्व जितने भी व्याकरण भारतीय तथा विदेशी विद्वानों के द्वारा लिखे गये थे, उनमें अन्य भाषाओं, विदेशी भाषाओं तथा उपभाषाओं-बोलियों के आगत शब्दों के प्रयोग की ओर ध्यान नहीं दिया गया था। परिणामतः सभी व्याकरणों में प्रामाणिकता का अभाव बना रहा। अततः हिन्दी भाषा के एक सर्वमान्य व्याकरण ग्रंथ की रचना का उत्तरदायित्व हिन्दी के पाणिनि पं० कामताप्रसाद जी गुरु को सौंपा गया। इसी बीच पं० विनायकरावजी की व्याकरण-पुस्तिका "व्याख्या विधि" भी प्रकाशित हुई थी किन्तु नागरी प्रचारिणी सभा ने एक सर्वांगपूर्ण व्याकरण की रचना की योजना बना रखी थी। सभा के द्वारा पं० कामताप्रसाद जी गुरु को "हिन्दी व्याकरण" की रचना का दायित्व सन् १९१३ में सौंपा गया और गुरु जी ने निरन्तर सात वर्षों की साधना के

उपरान्त सन् १९२० मे हिन्दी के सर्वमान्य 'व्याकरण का प्रणयन किया। व्याकरण सशोधन समिति ने १४ अक्टूबर १९२० को इस गवेषणापूर्ण 'हिन्दी व्याकरण' की सम्पुष्टि की और गुरु जी को इस महत् कार्य के लिये साधुवाद दिया। गुरु जी बहुभाषा विद् थे। विदेशी भाषाओ के साथ ही अनेक भारतीय भाषाओ का गहन अध्ययन भी गुरु जी ने किया था। सस्कृत व्याकरण-रचना की पद्धति के वे ज्ञाता थे। विदेशी-व्याकरण की रचना-पद्धति का उन्होंने गभीर चिन्तन किया था। व्याकरण रचना के समय सम्पूर्ण हिन्दी भाषा का प्रयोग क्षेत्र उनके समक्ष था। इस पूरे विराट क्षेत्र से अनुभव प्राप्त कर एव उनका प्रयोग कर गुरुजी ने भाषा का नियमन किया तथा सिद्धान्त निर्धारित किये। व्याकरण-दर्शन का क्षेत्र अत्यन्त विशाल है तथा इस निवन्ध की व्याकरण की मीमासा की सीमा भी नही है। केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि 'हिन्दी व्याकरण' की रचना ने गुरु जी को हिन्दी के सर्वमान्य वैयाकरण के पद पर प्रतिष्ठित किया है।

आचार्य प० कामताप्रसाद जी गुरु ने सन् १९३६ मे 'हिन्दुस्तानी शिष्टाचार' नामक आचार शास्त्र की रचना की थी। इन ग्रथ के समकालीन एक आचारशास्त्र पर एक ग्रथ रघुवरप्रसाद द्विवेदी का "सदाचार दर्पण" प्रकाशित हुआ था। 'हिन्दुस्तानी शिष्टाचार' की भूमिका मे गुरु जी ने भारतीय समाज मे प्रचलित व्यावहारिक परम्पराओ की विवेचना की है और आचारशास्त्रीय नियमो का प्रतिपादन किया है। इस ग्रथ मे शिष्टाचार और सदाचार, शिष्टाचार और चापलूसी, शिष्टाचर और स्वाधीनता, शिष्टाचार और सत्यता आदि सामाजिक प्रसगो पर गभीरतापूर्वक विचार किया है। इस ग्रथ मे जितने भी निवन्ध सकलित है उनमे दैनिक जीवन के कार्यो की शिष्टता पर गभीर चिन्तन किया गया है। भीड, मेला, रास्ता, मदिर, भोज, उत्सव, व्यवसाय, वेषभूषा, प्रवास, श्मशान यात्रा, जातीय व्यवहार, पचायत, सम्भाषण, पत्र व्यवहार, भेंट मुलाकात, परस्पर व्यवहार, गुण कथन, अतिथि सत्कार आदि पर नीति शास्त्रीय निर्देश दिये है। यह व्यावहारिक जीवन मे अनुशासन और शिष्टता की समाविष्टि के लिए महत्वपूर्ण आचार ग्रथ है।

प० कामताप्रसाद जी गुरु एक अनुभवी अध्यापक एव शिक्षाशास्त्री थे। उन्होने वालको के मनो-विकास को दृष्टि मे रखते हुए जहाँ एक ओर वाल-

कविताओं की रचना की थी वहाँ ही दूसरी ओर उन्होंने पाठ्यपुस्कों की रचना तथा पाठ्यग्रंथों का सम्पादन भी किया था। 'बाल पद्यावली' गुरु जी कृत बाल साहित्य का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संकलन है। 'इंडियन एजुकेशन' में भी गुरु जी के अनेक शिक्षा विषयक निबन्ध प्रकाशित हुए थे।

साहित्य मनीषी पं० कामताप्रसाद जी गुरु जीवन के अन्तिम काल तक से साहित्य की सर्जना में संलग्न रहे। उनका वैयाकरण रूप इतना प्रखर तथा प्रतिष्ठित हो गया कि उनकी अन्य साहित्यिक कृतियों की उतनी अधिक चर्चा नहीं हो पाई। गुरु जी का व्याकरणकार का व्यक्तित्व इतना गतिशील था कि वे हमेशा भाषा शोधन तथा भाषा-परिमार्जन का कार्य करते रहते थे। सन् १९१८ में पं० कामताप्रसाद जी गुरु 'सरस्वती' सम्पादन करते हुए व्यावहारिक भाषा-पक्ष की ओर विशेष ध्यान देते थे तथा पत्रिका में प्रकाशन के पूर्व रचनाओं को भाषा तथा विषय की दृष्टि से परिमार्जित कर लिया करते थे। इस प्रणाली से अनेक लेखकों की भाषा में परिष्कार अपने आप आ गया था।

पं० कामताप्रसाद जी गुरु के आचार्यत्व को नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी ने प्रतिष्ठित किया था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ने 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि से उन्हें विभूषित किया था। पं० कामताप्रसाद जी गुरु द्विवेदी युग के साहित्यिक सौर मण्डल के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र, महान साहित्य मनीषी, हिन्दी भाषा के महान प्रतिष्ठाता तथा साहित्य के समर्पित आराधक थे।

|■|

गुरुजी का समस्त जीवन मातृ-भाषा के उत्कर्ष साधन में एक तपस्या निरत एकनिष्ठ साधक की त्यागपूर्ण तथा स्वार्थ-विरहित सेवा का आदर्श है।

लोचनप्रसाद पांडेय

संस्मरण

बचपन से जानने का सौभाग्य !

डॉ लज्जाशंकर झा

मुझे गुरुजी को बचपन से जानने का सौभाग्य मिला और अन्त समय के कुछ वर्ष पहिले तक घनिष्ट मित्रता रही है। गत साल दो साल से ही भेंट होना कठिन हो गया था। सागर हाई स्कूल मे जब मैं चौथी अँग्रेजी मे पढता था, एक दिन बूट पहिने फुटबाल खेल रहा था। एक छोटा-सा लडका जो पहिली कक्षा मे पढता था, नगे पैर मुकाबिला करने लगा। उसके सिर पर लम्बे बालो के पट्टे थे (उस समय का फैशन था) और भोला भाला हँसमुख निर्दोष, चैतन्यमुख था। उसकी हिम्मत देख मन खुश हुआ और अच्छी पहचान हो गयी। वह छोटा बालक और कोई नहीं था कामताप्रसाद था। पीछे खेल-कूद से इनको विमुख देखा।

कुछ दिनो बाद मैं सयुक्तप्रात मे शिक्षा के हेतु चला गया। पीछे शिक्षा समाप्त होने पर नौकर भी हो गया और ट्रेनिंग कालेज खुलने पर प्रोफेसर हो गया और हिन्दी पढाने का भार मुझे सौंपा गया। इतने समय मे कामता

प्रसाद जी के अनेक लेख तथा कविताएँ 'सरस्वती' आदि मासिक पत्रों में छपा करते थे और मैं वाँचा करता था। इस कारण भेंट न होने पर भी पुराना प्रेम बना रहा। आखिर को देखा कि गुरुजी का तबादला ४० वर्ष हुए जबलपुर नार्मल स्कूल ट्रेनिंग कालेज के आधीन और उसी अहाते में था। नतीजा यह हुआ कि हम दोनों में मित्रता बढ़ी, साहित्य-कार्य में सहयोग शुरु हुआ और गुरुजी को नाम कमाने के अनेक मौके मिले। उन दिनों देशी भाषाओं के प्रति बड़ी उदासीनता दिखाई देती थी। अँग्रेज अफसर तो उदासीन रहते ही थे, पर पढ़े लिखे हिन्दुस्थानी सवाये सिघई बनते थे। हिन्दी जानने अथवा बोलने लिखने वालों को दहकानी (गँवार) समझते थे। भाग्यवश स्पेंस साहिब, जो प्रिंसपल थे, हिन्दी के प्रेमी हो गये और उन्होंने प० कामता-प्रसाद जी की कदर करना शुरु की।

गुरुजी का सबसे बढ़िया कार्य हिन्दी व्याकरण का सर्वमान्य ग्रंथ सन् १९२० में बनाना हुआ। उन्होंने उसे बनाने में स्पेंस सा० की तर्क-शक्ति का अच्छा उपयोग किया। घंटों बहस हुआ करती। मुझसे भी खूब बहस किया करते थे। पर तो भी यह कहना पड़ेगा कि हिंदी के पाणिनि ने अपनी बुद्धि के बल पर ऐसी व्याकरण बनाई कि जिसकी टक्कर का ग्रन्थ हिन्दुस्थान की किसी भाषा में न मिलेगा।

उन्होंने हिन्दी की तीसरी तथा चौथी पुस्तकें (आक्सफोर्ड प्रेस) शिक्षा खाते की आज्ञा से लिखी और मैं समझता हूँ कि ऐसी अच्छी पाठ्यपुस्तकें अभी तक हिन्दी भाषा में नहीं लिखी गईं। आक्सफोर्ड प्रेस ने इन पुस्तकों पर लाखों रुपये कमाये। पर लेखक को केवल हजार पन्द्रह सौ से अधिक न मिले। शिक्षा के अधिकारियों ने भी अजीब उदासीनता दिखलाई। उन पुस्तकों का प्रचार २० वर्ष हुए उठ गया। शिक्षाविज्ञान की दृष्टि से ऐसी पुस्तकों के उठने का दुःख है। पर प्रेस को अनुचित लाभ हो रहा था, उनका बंद होना भी आवश्यक था।

जब गुरुजी की व्याकरण तैयार हुई तब काशी की नागरी प्रचारिणी सभा ने उसकी बारीकी से जाँच करने के लिए एक कमेटी बनाई जिसमें संयुक्त प्रदेश, बिहार, अजमेर तथा मध्यप्रदेश की सरकारों ने प्रतिनिधि भेजे। मुझे मध्य-प्रदेश की सरकार ने भेजा। उस समय मैं रायपुर में इंस्पेक्टर था। उस

कमेटी मे प० महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दरदास, प० रामचन्द्र शुक्ल, श्रीयुत रामचन्द्र वर्मा अजमेर के गुलेरीजी आदि अनेक विद्वान आये । पुस्तक इतनी अच्छी लिखी गयी थी कि कमेटी कोई महत्व का सशोधन न कर सकी । लौट आने पर मैंने मध्यप्रात के शिक्षाविभाग को लिखा कि ऐसी पुस्तक का छपना हिन्दी साहित्य के लिये बडे महत्व की बात है । काशी मे एकत्रित विद्वानो ने एक मत से इसे माना । मध्यप्रदेश तथा शिक्षाविभाग को गर्व होना चाहिये कि हमारे आदमी ने ऐसी पुस्तक लिखी, इसलिये सरकार को उसे मान देना चाहिये । मेरी तजवीज थी कि 'व्याकरणाचार्य' अथवा ऐसी कुछ पदवी दी जाय और साथ ही एक थैली भेंट की जावे । उस समय साहित्य उत्तेजन के लिए बजट मे रकम रहती थी । पर अभाग्यवश न थैली मिली, न पदवी । रायसाहिबी देने को तैयार हुए, पर गुरुजी को नीलवर्ण के शृगाल बनाने के लिए मैं राजी न हुआ रायसाहिबो को नीले फीते मे तमगा मिलता था ।

गुरुजी की पुस्तक छपने के बाद, अनेक लोगो ने उसमे से मसाला लेकर व्याकरण की पुस्तके बनाईं और पैसा भी बनाया । पर मूल लेखक को बहुत कम लाभ हुआ । प्रेमचन्दजी का भी यही हाल हुआ । प्रकाशक बन गये, पर लेखक को एकादशी मनानी पडती थी ।

सन् १९१६ मे जब साहित्य सम्मेलन जबलपुर मे हुआ, तब कामताप्रसादजी गुरु ने प्रमुख भाग लिया ।

गुरुजी की गद्यशैली सरल और निर्दोष होती थी । कविता भी अच्छी करते थे और व्याकरण के तो आचार्य थे । अभाग्यवश उन्होंने युनिवर्सिटी की डिगरी रुपी चपरास न लगाई । नार्मल स्कूल मे जन्म बीता, पर शिक्षा-विज्ञान की ओर लक्ष्य न दिया । अँग्रेजी अच्छी लिखते थे, पर यूनिवर्सिटी की छाप न होने से बढ न सके । बेचारे नायब शिक्षक ही बने रहे । योग्यता मे तो कसर नही थी । जब नागपुर युवर्निसिटी खुली, तब मुझे देशी भाषाओ का प्रधान बनाया गया । उस हैसियत से मैने गुरुजी को इण्टर मे हिन्दी का परीक्षक नियत करने की सिफारिश की । प्रोफेसर लोगो ने घोर विरोध किया कि क्या अधेर है कि केवल मेट्रिक पास युनिवर्सिटी का परीक्षक बनाया जाय ।

वैसे ही हाई स्कूल बोर्ड में मुझे विरोधियों से टक्कर लेनी पड़ी। लोगों को यह न सूझता था कि गुरुजी हिन्दी भाषा में एम० ए० के भी गुरु थे।

गुरुजी ने ऐसे समय में हिन्दी की सेवा की, जब हिन्दी प्रेमी ढूंढे नहीं मिलते थे। पढ़े लिखे लोग अँगरेजी के मदमाते थे। चारों दिशाओं में इस भाषा के लिए अंधकार था। कहावत है कि जिस आदमी ने पहलेपहल यह ढूँढ़ निकाला कि एक और एक दो होते हैं, वह एन्सटाइन की अपेक्षा अधिक मान्य गणितज्ञ है। इसी तरह उस अंधकार के समय, अनेक कठिनाइयों को झेलते हुए गुरुजी सरीखे सज्जनों ने जो भाषा की सेवा की उसे हर तरह मानना चाहिये। हर्ष का विषय है कि गुरुजी के सब पुत्र सजग हिन्दी-प्रेमी और हिन्दी-सेवी हैं।

|■|

उस समय मैं १० या १२ वर्ष का था। स्वयंसेवक की स्थिति में एक सूचना-पत्र पर हस्ताक्षर कराने के लिये मुझे गुरुजी के पास उपस्थित होने का अवसर आया।

गुरुजी ने सूचना-पत्र देखा और उनके मुख पर ऐसी भंगिमा आई कि मैं घबरा गया।

फिर वे उठे, कमरे में कुछ खोजबीन की, भीतर गए और लील पेंसिल ले आए। मेरे सामने ही उन्होंने सूचना-पत्र में लिखे 'जबलपूर' को सुधार कर 'जबलपुर' किया, हस्ताक्षर किये और नोटिस मुझे सौंप दिया।

अब मेरी समझ में सब कुछ आ गया। जो सबक मिला उसे कभी नहीं भूला।

—नर्मदाप्रसाद सराफ

हृदय की धड़कन !

श्री जहूरबख्श

मैं जब सन् १९१२ ईस्वी मे, केवल चौदह वर्ष की आयु मे हिन्दी की छठी कक्षा पास कर चुका, तब जुलाई के प्रारम्भ मे नार्मल स्कूल की प्रवेश-परीक्षा देने के लिये जबलपुर गया। एक दिन-कदाचित् दूसरी या तीसरी जुलाई के दिन ज्योंही मुझे प्रथम प्रश्न-पत्र से छुटकारा मिला, त्योंही मैं भोजनालय के सामने वाले नल पर पहुँचा और हाथ-मुँह धोने लगा। सहसा एक सज्जन नल की ओर आते दिखाई दिए। आयु यही कोई पैंतीस-छत्तीस वर्ष, यौवन के तेज से ओत-प्रोत मँझोला पुष्ट शरीर, गेहूँ सदृश वर्ण, लम्बी उज्वल मुखाकृति, चमकीली स्वच्छ आँखे, विशाल उच्च नासिका, भरी किन्तु कटी मूँछें, छोटी दीवाल की भूरी सी टोपी, मलेशिया जैसे रङ्ग का सादा कोट, कण्ठ मे लिपटा रूमाल, नक्की किनार की साफ-सुथरी धोती, पैरों मे पुरानी चाल के देशी जूते, बस, गम्भीरता एव शालीनता के साक्षात् प्रतीक।

उस समय मैं पढने-लिखने की अपेक्षा ऊधम या उपद्रव करने मे

विशेष कुशल था। उन सज्जन को देखते ही मेरे मस्तिष्क में शरारत ने करवट बदली। ज्यों ही वे निकट आये, त्योंही मैंने नल की टोंटी पर हथेली जमाई और उँगलियाँ उनकी ओर उठा दी। बस, पानी की तीव्र धारा वेग में उनका अभिषेक करने लगी। परन्तु प्रति-क्रिया-स्वरूप उनके होठों पर मुस्कान आई और कण्ठ में क्रुद्ध ध्वनि उपस्थित हुई 'छि, क्या करते हो यह ? हटो यहाँ से !'

मैं सहमकर दूर जा खडा हुआ। वे तत्काल हाथ धोकर चले गए। इतने में वहाँ नार्मल स्कूल का एक पुराना विद्यार्थी आ पहुँचा और बोला। 'जानते हो, वे कौन हैं ?'

'कौन हैं वे ?' मैंने पूछा।

'पण्डित कामताप्रसाद गुरु भाषा के शिक्षक ! जब उनके पास पढोगे, तब इस शरारत का फल चखोगे। बुरा किया तुमने।' विद्यार्थी ने उत्तर दिया।

उन दिनों मैं गुरुजी का महत्व तो क्या, नाम भी नहीं जानता था। फिर भी मेरी यह दशा हुई कि शरीर काटो तो उसमें लहू का नाम नहीं। सिर पर जैसे इस भय का भूत सवार हो गया कि यदि मैं प्रवेश-परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ, तो गुरुजी के पास पढूँगा और आज की शरारत के लिये उनके कोप का भाजन बनूँगा। बस, उस दिन से आठ पहर चौंसठ घडी मेरे रोम-रोम में एक ही चिन्ता परिव्याप्त रहने लगी कि अब क्या करूँ-क्या चुपके से घर भाग चलूँ ? शनै शनै इस चिंता ने मुझे एक प्रकार से अधमरा कर डाला।

भाग्य-वशात् परीक्षा फल अनुकूल रहा। मैं नार्मल स्कूल में भरती हो गया और ग्यारहवीं जुलाई को अपनी कक्षा में पहुँचा। दूसरा घण्टा बजते ही गुरुजी कमरे में पधारे। मैं अगली बेन्च पर ही बैठा था। इसलिये स्वभावतः गुरु जी की तीक्ष्ण दृष्टि मुझ पर पडी। उनके ओठों पर वही सूक्ष्म मुस्कान प्रस्फुटित हुई और उन्होंने मुझसे प्रश्न किया। 'क्या नाम है तुम्हारा ?'

'जहूरबख्श !' मैं सहम उठा। 'कहाँ से आये ?'

'गढ़ा(?)गढ़ से !' मेरा हृदय धड-धड करने लगा।

'वही राहतगढ से, जो सागर जिले मे है ?'

'जी हाँ !'—मेरे शरीर से पसीना छूटने लगा ।

'उस दिन के बाद और क्या-क्या शरारतें की ?' गुरुजी विशेष रूप मे मुसकिराए और उनके प्रखर नेत्र जैसे मेरा मर्म वेधने लगे ।

अब तो मेरी घिग्गी बँध गई और स्वर मानो कण्ठ से तिरोहित हो गया । परन्तु यह स्थिति पानी के बुलबुले के समान क्षण भर से अधिक नही ठहरी । गुरुजी ने मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही अपना व्यवसाय प्रारम्भ कर दिया । उन्होंने विद्यार्थियो को भाषा रचना सम्बन्धी कुछ आवश्यक बातें समझाई, सक्षेप मे 'जडभरत' की कहानी सुनाई और कक्षा से बाहर जाते-जाते आज्ञा दी 'यह कहानी अपनी-अपनी नोट-बुक मे लिख डालना और कल मुझे दिखाना ।'

इस प्रकार हृदय पर पडा हुआ भय का श्याम आवरण धूमिल हो गया और मेरे जी मे जी आया । मैं अपनी नोट-बुक मे 'जडभरत' की कहानी लिखकर दूसरे दिन कक्षा मे पहुचा और सबसे पिछली बेन्च पर जा बैठा-इस विचार से कि न मैं गुरुजी को देखूंगा, न गुरुजी मुझे देखेंगे, न भय का कोई कारण रहेगा । पहला घण्टा व्यतीत होते ही गुरुजी ने कक्षा मे पदार्पण किया और कुर्सी पर बैठते-बैठते कहा 'अपनी-अपनी नोट-बुक मेज पर रख दो, उनकी आज्ञा का पालन हुआ और वे शीघ्रता-पूर्वक एक-एक नोट-बुक पर पतली कॉपीइङ्ग पेन्सिल चलाने और उसे विद्यार्थी को लौटाने लगे । परन्तु उन्होंने मेरी नोट-बुक देखते-देखते एक ओर रख दी । मुझ पर जैसे गाज गिर पड़ी । मैंने समझ लिया कि बस, अब दण्ड मिलने मे अधिक विलम्ब नही है । सब नोट-बुकें देख चुकने के बाद गुरुजी ने मुझे अपने पास बुलाया । मैं काँपते-काँपते उनके पास पहुँचा । उन्होंने अपनी दृष्टि मेरे चेहरे पर गडाते हुए मुझ मे प्रश्न किया—'क्या ये अक्षर तुम्हारे हैं ?'

मेरा मूँह उतर गया । मैंने अटकते-अटकते उत्तर दिया 'जी हाँ !'

गुरुजी ने फिर प्रश्न किया 'और यह भाषा भी तुम्हारी है ?'

मेरा कण्ठ अवरुद्ध हो गया और मैं बडी कठिनाई से कह सका 'जी हाँ !'

गुरुजी ने कहानी में पाँच स्थलों पर संशोधन करते हुए जो कुछ कहा, उसका अभिप्राय कुछ-कुछ इस प्रकार था 'तुम्हारे अक्षर भी अच्छे हैं और तुम्हारी भाषा भी अच्छी है। परन्तु तुमने दो स्थानों पर शब्दों के उच्चारण से सम्बन्धित भूलें की हैं। ऐसी भूलें सर्वदा लेखक की अज्ञता प्रकट करती हैं। इनके सिवाय तुमने तीन स्थलों पर घरेलू शब्द रख दिए। ऐसे शब्द देश, काल और पात्र के अनुसार ही व्यवहार में लाये जाने पर भाषा के सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं। इसके विरुद्ध उनके प्रयोग से भाषा के सौष्ठव में बट्टा लगता है। इस कहानी में जो तीन घरेलू शब्द प्रयुक्त किए हैं, वे निरर्थक हैं। उनके बदले तत्सम अथवा तद्भव या सर्व-मान्य शब्द रखना ही शोभनीय है। भविष्य में ऐसी भूलों से सावधान रहा करो।'

यद्यपि मैं उस समय गुरुजी का कथन भली भाँति नहीं समझ सका, तथापि उसमें जो वात्सल्य था, वह तत्काल मेरे हृदय में उतर गया। फिर तो भय का सारा आतङ्क जाता रहा। परिणाम यह हुआ कि मैं कहानियाँ अथवा लेख और भी मनोयोग से लिखने लगा। गुरुजी ने भी संशोधन का यह-क्रम नियमित रूप से चालू रखा। वे नित्य सब विद्यार्थियों की नोट-बुकें निबटाने के बाद ही मेरी नोट-बुक लेते, मुझे अपने पास बुलाते और एक-एक बात समझाते हुए उसमें संशोधन करते जाते। कभी कहते -'वाक्य छोटे लिखा करो!' कभी कहते 'वाक्यों का पारस्परिक सम्बन्ध स्थिर रखा करो।' कभी कहते 'विराम-चिह्नों का उपयोग सावधानी से किया करो।' इतना ही नहीं, वे अपना कथन स्पष्ट करने के लिये मेरे सामने उदाहरण-पर-उदाहरण रखते, मुझे उनकी विशेषताएँ बताते और फिर वैसे ही वाक्य रचने की प्रेरणा देते।

कुछ समय पश्चात् मैं कदाचित् गुरुजी की प्रतीति का पात्र हो गया। वे यदा-कदा अपने लेख मुझे स्वच्छ प्रतिलिपि तैयार करने के लिए सौंपने लगे, जिनसे मुझे उनकी लेखन-प्रवृत्ति के स्पष्ट दर्शन होते थे। वे अपने लेख सदा तिरछी घिसी हुई निब अथवा कटी हुई कलम से बड़े-बड़े सुन्दर अक्षरों में लिखते थे और फिर उनमें अत्यधिक काट-छाँट करते थे यहाँ तक कि कोई-कोई शब्द कई-कई बार बदल डालते थे। फलतः मुझे उनकी प्रतिलिपि तैयार करने में कभी-कभी बड़ी कठिनाई प्रतीत होने लगती थी। अन्त में एक दिन मैंने साहस कर उनसे पूछा 'आप लेखों में इतनी काट-छाँट क्यों करते थे?'

गुरुजी मुस्कराकर बोले 'यह बहुत अच्छा प्रश्न उठाया तुमने ! सुनो, मैं जो कुछ लिखना चाहता हूँ, उस पर कई दिन तक गम्भीरता-पूर्वक सोच-विचार करता रहता हूँ । इसके बाद अवकाश पाने पर उसे इतनी सावधानी से लिखता हूँ कि शब्द तो कम-से-कम व्यय किए जाएँ, किन्तु उनके द्वारा अर्थ अधिक-से-अधिक व्यक्त हो । जब लेख समाप्त हो जाता है, तब उसे योंही रख छोड़ता हूँ । फिर कुछ समय उपरान्त ध्यानपूर्वक उसका पाठ करता हूँ, एक-एक वाक्य व्याकरण के काँटे पर तौलता और देखता हूँ कि प्रत्येक शब्द अपने उचित स्थान पर है या नहीं । इसके साथ-साथ यह भी देखता हूँ कि विशेष अर्थ-गाम्भीर्य प्रकट करने के लिये वाक्य में कहाँ तक शब्दों का उलट-फेर किया जा सकता है, अथवा किस शब्द के बदले कौन-सा शब्द रखा जा सकता है । यह कार्य करते समय कभी-कभी मस्तिष्क में ऐसे भाव भी जाग्रत होते हैं, जो रचना में सर्वथा नवीन प्राण की नवीन सौन्दर्य की प्रतिष्ठा कर देते हैं । ये ही कुछ कारण हैं जिनसे विवश हो, मैं अपने लेखों में इतनी काट-छाँट करता रहता हूँ । यदि यह सब न करूँ, तो आत्मा को सन्तोष प्राप्त नहीं होता ।'

इस प्रकार गुरुजी मुझे एक ओर भाषा की लेखन-शैली समझाते थे, तो दूसरी ओर अपने निराले ढङ्ग से उसका अध्ययन भी कराते थे । उन दिनों नार्मल स्कूल में 'सत्य-हरिश्चन्द्र' पाठ्य-पुस्तक के रूप में नियत था । भारतेन्दुजी की कृति होने से वैसे ही उसका साहित्यिक महत्व था, फिर उसे पढ़ाते थे गुरुजी । ज्योंही मैं उसका एक अनुच्छेद पढ़ चुकता था, त्योंही वे उस पर इस क्रम से प्रश्न आरम्भ करते थे कि धीरे-धीरे मेरी भाव-ग्राहिका शक्ति तीव्रतम हो उठती थी । बस, मैं अज्ञात भाव से उसके अन्तर में प्रविष्ठ हो जाता और एक सुधी समालोचक के समान उसकी विशेषताओं का विश्लेषण करने लगता था । यहाँ तक कि गुरुजी कभी-कभी प्रसन्नता के आवेश में मेरी पीठ थपथपा देते और कह बैठते थे—'शांत भी रहो वत्स, बहुत बोल चुके !' इस प्रकार वे बड़े कौशल से मुझे 'साहित्यकार' के साँचे में ढाल रहे थे, और मैं उनके इस प्रयत्न से सर्वथा अपरिचित था । हाँ, उनके प्रति मेरे हृदय में श्रद्धा-भक्ति की पवित्र भावना अवश्य उद्भूत हो चुकी थी, और उत्तरोत्तर उन्नति कर रही थी । उनके व्यक्तिगत महत्व के विषय में भी मैं कुछ नहीं जानता था, सिवाय इसके कि वे लेखक और कवि हैं, तथा उनकी रचनाएँ 'सरस्वती', 'हितकारिणी' आदि मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं ।

गुरुजी बात-बात मे शिष्टाचार का ध्यान रखते थे। वे अप्रसन्न भी होते थे, क्रुद्ध भी होते थे, परन्तु उनके ये भाव कभी सीमा का उल्लङ्घन नही करते थे केवल कुछ उच्च-स्वर तक पहुँचते-पहुँचते रह जाते थे। विशेष क्या, अप्रसन्नता अथवा क्रोध के आवेश मे वे कभी किसी विद्यार्थी से 'मूर्ख' भी नही कहते थे। भाषा पढाते समय तो सुरुचि का अत्यधिक विचार रखते और शृङ्गार-रस की चर्चा से सर्वथा दूर रहते थे। एक दिन 'सत्य-हरिश्चन्द्र' पढते समय यह पद आया "टूट ठाट घर टपकत खटियो टूट, पिय की बाँह उसिसवा, सुख की लूट।" गुरुजी ने इसे टालना चाहा, परन्तु मैं मूर्खतावश उनसे इसका अर्थ पूछ बैठा। बस, उन्होंने क्रुद्ध होकर कहा 'तुम्हे इसका अर्थ जानने की आवश्यकता नही है।' समय की गति के साथ-साथ उनकी यह शिष्टाचार-सम्बन्धी प्रवृत्ति इतनी समृद्ध हुई कि उन्होंने इस विषय पर एक सर्वाङ्ग-सुन्दर पुस्तक ही लिख डाली। उसके पाठ से स्पष्ट विदित होता है कि उन्होने इस विषय का कितना सूक्ष्म अध्ययन किया था।

अप्रैल, सन् १९१३ ईस्वी मे नार्मल स्कूल का शिक्षण-काल समाप्त हो गया। जब परीक्षा देने के उपरान्त सागर लौटने लगा, तब मैंने गुरुजी से पूछा 'क्या मेरी रचनाएँ भी पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित हो सकेगी ?'

गुरुजी बोले 'प्रकाशित न हो सकेंगी, तो मैं यही समझूँगा कि मैंने व्यर्थ तुम्हें इतना पढाया-लिखाया। फिर प्रकाशित कराने के उद्देश्य मे लिखो ही क्यो ? केवल लिखने के लिये मन प्रसन्न करने के लिये ही क्यो न लिखो ? प्रकाशित हो, तो अच्छा, प्रकाशित न हो तो भी अच्छा। पत्र बराबर दिया करो। मैं कुछ-न-कुछ सहायता तो करता ही रहूँगा।'

मैंने सागर आते ही एक प्राइमरी स्कूल मे शिक्षक का कार्य सभाला और गुरुजी की कृपा से कमाई हुई पूँजी द्वारा लेखन-व्यवसाय प्रारम्भ कर दिया। शीघ्र ही मुझ पर सफलता की दया-दृष्टि हुई और मेरी रचनाएँ 'शिशु', 'बाल-सखा', 'गृह-लक्ष्मी', 'हितकारिणी' आदि पत्र-पत्रिकाओ मे स्थान पाने लगी। कहने की आवश्यकता नही कि गुरुजी निरन्तर मेरी प्रगति पर दृष्टि रखते थे। वे पत्रोत्तर द्वारा अपनी प्रसन्नता प्रकट करते थे, किन्तु उसके साथ प्रत्येक बार 'परन्तु' और जोड देते थे और वह 'परन्तु' निश्चय ही मुझे नवीन पथ सुझाती थी नवीन प्रेरणा देती थी।

सन् १९१६ ईस्वी मे मध्यप्रदेश के शिक्षा विभाग ने गुरुजी को प्राइमरी स्कूलो के लिये भाषा की पाठ्य-पुस्तकें रचने का कार्य सौंपा । गुरुजी ने मुझे चौथी कक्षा की योग्यता के बालको के लिये 'मोहर्रम' पर एक पाठ लिखने का आदेश दिया । मैंने उनके आदेश का पालन किया और उनकी सेवा मे पाठ लिख भेजा । परन्तु पाठ उनको पसन्द नही आया । जब कुछ समय बाद चौथी पुस्तक का प्रकाशन हुआ, तब उसमे मुझे अपने नाम के साथ 'मोहर्रम' शीर्षक पाठ लिखा मिला । परन्तु गुरुजी के सम्पादन-कौशल से इसका रूप सर्वथा परिवर्तित हो गया था । वास्तव मे उनके इस कार्य ने मुझे अत्यधिक प्रभावित किया । मेरी लेखनी की गति ने ऐसा मोड लिया, जिससे फलत मैं भविष्य मे बालोपयोगी साहित्य का निर्माण करने मे आशातीत सफलता प्राप्त कर सका और सदा कुछ-न-कुछ लाभ मे रहा ।

गुरुजी सागर के ही निवासी थे, परन्तु वश-गत वैमनस्य से उनका जी इतना खट्टा हो चुका था, कि वे सागर बहुत कम आते थे, या कभी आते थे, मुझे पहले से सूचित कर देते थे । फिर तो जब तक सागर मे ठहरते थे, तब तक मैं बराबर उनकी सेवा मे उपस्थित रहता था । एक दिन ज्योही मैं उनके दर्शनार्थ पहुँचा त्योही उन्होंने कदाचित् शिष्टाचारवश मुझसे प्रश्न किया 'कहिये, आप सानन्द तो है ?'

मैं कुछ विस्मित हुआ और उनके चरण-स्पर्श करते-करते बोला 'यह क्या—आप मुझे इतना मान क्यो दे रहे हैं ?'

गुरुजी ने मुस्कराते हुए विनोद-पूर्ण स्वर मे उत्तर दिया 'इसमे विस्मय की कौन-सी बात हुई ? आप हिन्दी के उदीयमान लेखक है !'

अब तक मैं गुरुजी के व्यक्तिगत महत्व से भली-भाँति परिचित हो चुका था । वे हिन्दी-ससार के सुलेखक और सुकवि ही नही अद्वितीय कीर्ति-कान्त महारथी और वैयाकरण थे । मेरे हृदय मे इस बात का अभिमान जाग उठा था कि मैंने उन जैसे धुरन्धर आचार्य के चरणो मे बैठकर कुछ पढा है कुछ सीखा है । उनके शब्द सुनते ही मैं लज्जा से अभिभूत हो उठा और हाथ जोडकर बोला 'इतना अन्याय न कीजिये । आप मेरे पिता है और मैं आपका पुत्र हूँ । यदि पिता ही पुत्र को इतना मान देगा, तो पुत्र कौन-सा मुँह लेकर उसके सामने उपस्थित होगा ? पुत्र पिता की ओर से मान का नही, वात्सल्य का भूखा रहता हैं ।'

गुरुजी ने मेरे सिर पर अपना वरद हस्त रखते हुए कहा 'अच्छा, तुम्हें मेरी ओर से मान नहीं, वात्सल्य ही प्राप्त होगा।'

यह ठीक है कि गुरुजी स्वभाव से सरल, विनम्र और निरभिमान थे, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर अपने अद्‌भुत स्वाभिमान का परिचय देने में भी नहीं चूकते थे और सिद्धान्त की रक्षा करने के लिए तो अङ्गद के समान अड़ जाते थे। मुझे स्मरण है कि एक दिन कक्षा में एक बड़े अधिकारी महोदय व्याकरण के किसी प्रश्न पर गुरुजी से उलझ पड़े। गुरुजी ने अधिकारी महोदय को समझाने का प्रयत्न भी किया। परन्तु अधिकारी महोदय कब मानने वाले थे! वे तो यही चाहते थे कि मैं अधिकारी हूँ! इसलिए गुरुजी को अधीनस्थ कर्मचारी की नाईं मेरी हाँ में हाँ मिलानी चाहिए। परन्तु गुरुजी ने उनको निर्भीकता-पूर्वक ओजस्वी स्वर में उत्तर दे दिया "आपने जिस विषय का अध्ययन-मनन ही नहीं किया, उस पर विवाद करना आप की अनधिकार चेष्टा है, और अनधिकार चेष्टा कभी माननीय नहीं होती।"

गुरुजी की स्पष्टवादिता और परिहास-प्रियता का एक संस्मरण ऐसा है, जो आज भी हँसा देता है। मेरे एक सुपरिचित दुर्जन 'बिहारी-सतसई' पर लगभग चालीस दस्ते कागज काले कर चुके थे। वे सन् १९३० की दीपावली की छुट्टियों में मेरे साथ जबलपुर पहुँचे इस अभिप्राय से कि गुरुजी उनके उस महा प्रयास पर एक महा भूमिका लिखने की कृपा कर दें। गुरुजी उनका वह महा प्रयास देखते ही और उनका वह महा अभिप्राय सुनते ही सजग होकर बैठ गए और बोले 'भला आपने इस ग्रन्थ-सम्राट् में लिखा क्या है?'

दुर्जन ने अकड़कर उत्तर दिया—'एक असाधारण महत्व की बात, वह यह कि बिहारी संसार के सर्व-श्रेष्ठ महा कवि हैं उनकी 'सतसई' संसार की सर्वश्रेष्ठ काव्य-कृति है!'

गुरुजी नेत्र फाड़-फाड़कर दुर्जन का मुँह ताकने लगे और बोले 'तब तो आपने दीना-हीना हिन्दी को सनाथ कर दिया! सचमुच आप संसार की सभी भाषाओं के पण्डित हैं—सभी भाषाओं के साहित्य से अभिज्ञ हैं, तभी तो ऐसे ग्रन्थ-सम्राट् की रचना करने में समर्थ हो सके! परन्तु कठिनाई यह है कि मैं अकेली हिन्दी भाषा के साहित्य से भी अनभिज्ञ हूँ। फिर कैसे आपके इस ग्रन्थ-सम्राट् पर भूमिका लिखूँगा, सो भी छोटी नहीं-मोटी, बहुत मोटी!'

इस तीक्ष्ण व्यंग से दुर्जन तिलमिला उठे, कहने लगे 'यह परिहास रहने दीजिए ! थोड़े-से चुने हुए अंश सुन लीजिए। फिर कुछ कहिए !'

गुरुजी मुस्कराकर बोले—'परन्तु पहले यह बता दीजिए कि मैं केवल सुनूँगा ही, या कुछ कह भी सकूँगा ?'

दुर्जन ने खिन्न होकर कहा 'यहाँ तक आया ही किसलिए हूँ ! आप प्रसन्नता से कह भी सकेंगे और अपनी सम्मति भी दे सकेंगे। आज्ञा हो, तो सुनाऊँ ?'

गुरुजी बोले 'अच्छा, सुनाइए।'

ज्योंही दुर्जन ने एक वाक्य पूरा किया, त्योंही गुरुजी ने उसे व्याकरण की कसौटी पर कसना शुरू कर दिया 'अमुक शब्द के प्रयोग का क्या अभि-प्राय है ? क्या अमुक अपने उचित स्थान पर है ? इस वाक्य का कर्त्ता कौन है ? क्या इस वाक्य में कर्म है ? फिर इस वाक्य की क्रिया सकर्मक क्यों है ? क्या यह विभक्ति अधिकरण कारक की द्योतक है ? सम्प्रदान कारक का लक्षण क्या है ?' आदि आदि।

दुर्जन व्याकरण के ज्ञान से कोरे थे। भला वे इन प्रश्नों के उत्तर कैसे देते ? उनको एक अनुच्छेद समाप्त करना भी कठिन हो गया। अन्त में उन्होंने क्षुब्ध होकर कहा 'आप तो भाषा की गठन देखते हैं ! भावों के प्रस्फुटन पर ध्यान ही नहीं देते !'

गुरुजी हँसकर बोले 'कैसी अनोखी बात करते हैं आप। जहाँ भाषा का गठन ही ठीक नहीं है, वहाँ भावों का प्रस्फुटन किस प्रकार हो सकता है ? क्षमा कीजिए, आप संसार के सर्व श्रेष्ठ विद्वान् भले ही हों, हिन्दी आपके इस महाप्रयास की मोहताज नहीं है। अपनी यह दया-दृष्टि उससे दूर ही रखिए।'

बस, दुर्जन अपना आपा खो बैठे और काले नाग के समान फुफकार उठे। फिर वे रोकने पर भी नहीं रुके, अपना ग्रन्थ-सम्राट् बगल में दबा, बिना राम-रहीम किये ही वहाँ से नौ-दो ग्यारह हो गये। गुरुजी शान्त, किन्तु प्रसन्न भाव से बोले 'कैसे खेद की बात है कि संसार के सर्व-श्रेष्ठ लेखक महोदय मेरे द्वार से इस प्रकार विमुख होकर चल दिये ! जहूर, तुम उनको यहाँ लाये ही क्यों थे ?'

गुरुजी सदा प्रसन्न-चित्त रहते और व्यंग-विनोद में बड़ी रुचि रखते थे। वे साधारण वार्तालाप में भी व्यंग अथवा विनोद में पूर्ण वाक्य बोल जाते थे। समयानुसार व्यंग-विनोद में ओत-प्रोत लेख लिखते या कविताएँ रचते और भिन्न-भिन्न काल्पनिक नामों से प्रकाशित करवाते थे। इतना ही नहीं, उनके गम्भीर-से-गम्भीर लेख में भी व्यंग और विनोद का कुछ-न-कुछ पुट अवश्य आ जाता था। उनका विनोद जितना शिष्ट और स्मित होता था, व्यंग उतना ही तीक्ष्ण रहता था। लक्ष्य पर इतनी करारी चोट करता था कि वह तड़पकर रह जाता था।

वास्तव में गुरुजी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। जी में आता था, तो इतिहास और पुरातत्व पर भी सुन्दर लेख लिख डालते थे। उनका 'दन्तेवाड़ा का शिला-लेख' शीर्षक लेख देखकर विद्वान् मुग्ध हो गये थे। गुरुजी इच्छा होने पर समालोचना भी लिखते थे। उन्होंने 'सत्य-हरिश्चन्द्र' नाटक की जो समालोचना लिखी थी, वह सर्वाङ्ग सुन्दर थी और समालोचना का आदर्श प्रस्तुत करने वाली थी। विद्वानों ने मुक्त कण्ठ से उसकी प्रशंसा की थी। उसे देखने के बाद पूज्य पण्डित रघुवरप्रसादजी द्विवेदी, गुरुजी को आचार्य पण्डित महावीरप्रसादजी द्विवेदी के समान समझने लगे थे, और कभी-कभी प्रसन्नता के आवेश में उनको 'मध्यप्रदेश के द्विवेदीजी' जैसे सम्मान से अभिहित करते थे।

मैंने गुरुजी के अन्तिम दर्शन सन् १९४३ में किये थे। दस फरवरी का दिन था और दस बजे प्रातःकाल का समय। मैं एजुकेशनल बुक डिपो में पहुँचते ही देखता क्या हूँ कि गुरुजी शान्त-भाव से बैठे-बैठे पण्डित मातादीन-जी शुक्ल से वार्तालाप कर रहे हैं। ज्योंही मैंने उनके चरण स्पर्श किये, त्योंही उनका वात्सल्य उमड़ आया। वे उठकर खड़े हो गये, नेत्रों में आँसू भर लाये, और मेरी पीठ पर हाथ रखते-रखते करुण स्वर में बोले 'वत्स, तुम्हारी प्रगति से मेरी आत्मा सन्तुष्ट है। भगवान करे, तुम चिरकाल तक सुखी रहो और यश-मान कमाओ। यह मेरा आशीर्वाद है।'

आयु के आधिक्य से तो क्या, रोगों के निरन्तर प्रहार से गुरुजी का शरीर जर्जर एवं तेज हीन हो चुका था। उनकी यह अवस्था देखकर मेरे नेत्र भी डबडबा आये और मैंने पुनः उनके चरण स्पर्श करते-करते कहा 'परन्तु यह आशीर्वाद मुझे तभी कृतार्थ कर सकेगा, जब आपके वरद हस्त की छाया मेरे सिर पर बनी रहेगी।'

गुरुजी बोले 'मैं तो जीवन के सन्ध्या-काल में प्रवेश कर चुका हूँ। मेरा शरीर देख ही रहे हो, कौन जाने, कब यह पंचतत्व में मिल जाये। हृदय की धड़कन रुकने में देर ही कितनी लगती है! परन्तु चिन्ता की क्या बात है, मेरे पीछे रामेश्वर, राजेश्वर आदि तो रहेंगे ही, उन पर कृपा-भाव बनाये रखना।'

मैंने कहा 'कहाँ रामेश्वर, राजेश्वर आदि, और कहाँ मैं! भला उन पर मैं क्या कृपा-भाव रखूँगा? कृपा-भाव तो उनका मुझ पर होना चाहिए।

गुरुजी बोले 'यह उल्टी गङ्गा बहाने का क्या अर्थ! वे तुम्हारे छोटे भाई हैं, इसलिए वर्तमान में भी तुम्हारे कृपा भाव के, तुम्हारे स्नेह-भाव के अधिकारी हैं और भविष्य में भी रहेंगे। समझे?'

इसके उपरान्त दिन पर दिन, मास पर मास और वर्ष पर वर्ष व्यतीत होते गये, परन्तु मैंने ऐसा कोई अवसर न पाया, जब मैं जबलपुर जाता और गुरुजी के दर्शन का लाभ उठाता। यहाँ तक कि सन् १९४७ आ पहुँचा और पन्द्रह अगस्त को भारत स्वतन्त्र हो गया। मुझे यह सोचते-सोचते परम आनन्द हुआ कि गुरुजी हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर देखने के लिए आजीवन उद्योगरत रहे हैं। अब तो वह राष्ट्र-भाषा के पद की प्रतिष्ठा पायेगी ही और गुरुजी की साध पूरी हो जायेगी।

परन्तु गुरुजी की यह साध पूरी नहीं हुई। भारत की स्वतन्त्रता के ठीक तीन मास उपरान्त उन्होंने भी स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। एक दिन मैंने 'शुभचिन्तक' में पढ़ा 'सहसा हृदय की गति रुक जाने से सोलह नवम्बर को गुरुजी का स्वर्ग-वास हो गया।' बस, मुझे अत्यधिक आश्चर्य और दुख हुआ। आश्चर्य इसलिए कि गुरुजी ने उस दिन कहा था 'हृदय की धड़कन रुकने में देर ही कितनी लगती है!' सचमुच हृदय की धड़कन रुकने से ही उन्होंने स्वर्ग-वास प्राप्त किया, जैसे वे आगम-दर्शी थे! दुख इसलिए कि उनके स्वर्ग-वास से मैं जैसे पुन. पितृ-हीन हो गया। यद्यपि वे मेरे जन्म दाता नहीं थे, तथापि मेरे निर्माता तो थे, मेरे पथ-प्रदर्शक तो थे, मेरे सिर पर अपना वरद-हस्त रखने वाले तो थे। अब उनके अभाव में कौन मुझे अपना पवित्र वात्सल्य प्रदान करेगा और कौन मेरी प्रगति देखकर सन्तुष्ट होगा?

जबलपुर तो मैं अब भी जाता हूँ, गुरुजी के निवास-स्थान पर पहुँचता

और भैया रामेश्वर से बातें करता हूँ, परन्तु जब देखता हूँ कि मेरे उस तीर्थ-मन्दिर का वह आधार-मेरी पूजा-अर्चा का वह देवता न जाने, कहाँ अन्तर्हित हो गया है, तब मेरा हृदय मुँह को आने लगता है। बस, मैं बलात् उस दिन की स्मृति में खो जाता हूँ, जिस दिन मैंने उसका प्रथम दर्शन पाया था और उसे शरारत के साथ नल के निर्मल जल से अभिषिक्त किया था। फल-स्वरूप उनके ओठों पर मुसकान आई और कण्ठ से क्रुद्ध ध्वनि उत्थित हुई थी। मैंने गुरुजी के जीवन-काल में बार-बार चाहा कि मैं उनसे पूछ लूँ 'उस दिन मेरे प्रति आप में वे दो पारस्परिक विरोधी भावनाएँ क्यों उदित हुई थीं?' परन्तु लज्जा ने प्रत्येक बार मेरा कण्ठ धर दबाया और मैं उनसे कुछ न पूछ सका। क्या मनोविज्ञान का कोई पाठक पूज्य-चरण गुरुजी की उन दोनों पारस्परिक विरोधी भावनाओं पर कुछ प्रकाश डालने की कृपा कर सकेगा?

[■]

लगभग ७० वर्ष पूर्व आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'कविता-कलाप' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। यह पाँच कवियों की कविताओं का संग्रह है। इसमें पाँचों कवियों के चित्र हैं। गुरुजी का चित्र बीचो-बीच है।

गुरुजी ने विनम्र पत्र लिखकर आचार्य से पूछा "केन्द्र में स्थान देकर मुझे इतना महत्व क्यों दिया गया?"

आचार्य ने संक्षिप्त उत्तर दिया "गुरुत्वाकर्षण का महत्व इसका कारण है।"

(संकलित)

'अपने ताबूत को हम तख्ते सुलेमा समझे !'

डॉ. विनयमोहन शर्मा

'हिन्दी' भाषा की ओर अभिरुचि रखने वाला 'गुरु' नाम से अपरिचित रहे, यह सभव नही है। 'गुरु' शब्द वश-पद का ही सूचक नही है; वह अपना सच्चा अर्थ भी व्यञ्जित करता है। गुरुजी वास्तव मे 'गुरुजी' रहे हैं और 'हैं'। प्रात के कई व्यक्तियो ने 'भाषा' की शिक्षा उनके मुख से ही ग्रहण की है।

सन १९२९ मे जब मैंने मध्यप्रान्त के हिन्दी लेखक और कवियो के सबध मे एक पुस्तक लिखने का निश्चय किया था तब मुझे सबसे पहिले गुरुजी का ही स्मरण आया। और मैंने उन्हे एक पत्र मे अपने निश्चय को व्यक्त कर उनसे सहायता की याचना भी की थी। उनसे मेरा उस समय किसी भी रूप मे परिचय न था। फिर भी उन्होने १८-८-२९ को बडे उत्साह के साथ मेरे पत्र का उत्तर दिया। उन्होंने लिखा :

"आपका पत्र प्राप्त हुआ। बडे ही आनन्द की बात है कि आपने मध्यप्रदेश के हिन्दी लेखको के विषय मे पुस्तक लिखने का विचार किया है।

मैं इस कार्य की उपयोगिता को स्वीकृत करता हूँ और इसके साथ मेरी पूर्ण सहानुभूति है। मेरा एक चित्र दो तीन वर्ष से 'सुधा' (लखनऊ) के सम्पादकों के पास पड़ा हुआ है। वे लोग न इसका उपयोग करते हैं और न उसे लौटाते हैं। . ..मिश्र बंधु कार्यालय जबलपुर ने मेरे पद्यों का संग्रह पद्य-पुष्पावली के नाम से छापा है तथा रामनरेश त्रिपाठी (हिन्दी मंदिर, प्रयाग) ने अपनी कविता-कौमुदी भाग २ में मेरा जीवन-चरित दिया है। इन पुस्तकों से आपको मेरे विषय में सूचना मिलेगी। मैं इस विषय में आपका कृतज्ञ हूँ कि आप मध्यप्रदेश के लेखकों में मुझे स्थान देने का विचार कर रहे हैं।"

पत्र का अन्तिम वाक्य गुरुजी की विनम्रता और सरलता से ओत-प्रोत है। क्या उन्हें यह भी ज्ञात नहीं है कि उनके बिना मध्यप्रांत का कोई भी साहित्य-इतिहास अपूर्ण ही रह जायेगा।

यद्यपि 'गुरुजी' ने अपने सम्बन्ध में पुस्तकों का निर्देश कर दिया था पर मुझे उन से प्रत्यक्ष मिलकर उनके 'मुख' से ही उनके सम्बन्ध में जानने की इच्छा थी। अतः मैं सन् १९३२ में जब जबलपुर गया तो प० नर्मदाप्रसाद जी मिश्र के साथ उनसे दीक्षितपुरा में उन्हीं के मकान पर मिला। उस समय वे अस्वस्थ से थे फिर भी उन्होंने दो-तीन घंटे सोत्साह साहित्य-चर्चा की। उस समय 'निराला' ने वर्तमान कविता की चर्चा करते समय गुरुजी पर जरा कटाक्ष किया था।

उन्होंने पूछा "क्या 'निराला' के समान ही आप भी मुझे कवि नहीं मानते।"

प्रश्न बिलकुल सीधा और स्पष्ट था। मैं कुछ असमंजस में पड़ गया। फिर मैंने धीरे से कहा "जिस श्रेणी तक मैं प० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी को कवि मानता हूँ उसी श्रेणी तक आपको भी।" गुरुजी जरा मुस्कुराए और फिर 'छायावाद' की कविताओं की तीव्र आलोचना करने लगे। उसकी अस्पष्टता पर उन्हें विशेष आपत्ति थी। उसी समय सकुचाते से 'रामेश्वर'—गुरुजी के सुपुत्र वहाँ आये। उन्होंने उन्हीं दिनों लिखना प्रारंभ किया था और 'स्वराज्य' में उनकी कई सुन्दर रचनाएँ छप चुकी थीं। गुरुजी ने उनकी ओर संकेत कर कहा "इनकी भी आप ऊटपटांग चीजें छापते रहते हैं।" उस समय मुझे प्रांत के एक प्रतिष्ठित नेता के ये शब्द स्मरण हो आये "गुरुजी बड़े कड़े आलोचक हैं। पर यह बात वे स्वयं नहीं जानते।"

मैंने कहा—"ऊटपटांग कहिए, चाहे जो कहिए, पर इनकी रचनाएँ यह सिद्ध करती है कि 'गुरु-परिवार' मे आधुनिक खडी बोली की कविता के विकास का जीवित इतिहास विद्यमान है।" इसके पश्चात मैंने उनसे अपने साहित्यिक जीवन के अनुभव सुनाने का आग्रह किया। वे कह चले "१८ वर्ष की अवस्था मे सन १८६२ मे मैंने कविता लिखना प्रारंभ किया। जबलपुर के 'शुभचिन्तक' मे मेरे लेखादि छपा करते थे। कन्नौज से निकलने वाले 'पयामे आशिक' मे उर्दू कविता भी मैं लिखा करता था।" यहाँ गुरुजी ने अपनी उर्दू कविता का एक नमूना भी सुनाया।

"दो कदम हाथ लगाकर जो वो हम राह चले।
अपने तावूत को हम तख्ते सुलेमा समझे।"

'सरस्वती' मे मैं कविता लिखने मे बहुत समय तक झिझकता रहा। द्विवेदी जी का आतक ही इसका कारण था।" एक दिन सहसा मुझे द्विवेदी जी का एक पत्र मिला, जिसमे उन्होने लिखा था—

"सरस्वती' आपसे कविता की भिक्षा मागती है।" इस पत्र का मुझ पर बहुत ही प्रभाव पडा। मैंने नम्रतापूर्वक उत्तर मे लिखा—"

"भक्त हेतु विधि सदन विहाई।
सुमिरत सारद आवत धाई।"

'बेटी की विदा' से मैंने 'सरस्वती' मे कविता लिखना प्रारंभ किया।"

गुरुजी को साहित्यिक 'नोक झोक' मे विशेष आनद आता रहा है। सन १९०४ और १९०५ के बीच मे प० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल के सपादन मे प्रकाशित होने वाले 'प्रयाग समाचार' मे स्व० प० श्रीधर पाठक और गुरुजी मे पद्यबद्ध व्यग्य चलता रहा। प्रच्छन्न रूप मे दोनो महानुभावो ने अपने को पर्दे की ओट ही रखा था। गुरुजी ने कवियो को सबोधित कर लिखा था

'करो लेखनी अपनी बद।
श्रीधर को सौंपो सब छद।"

यह तुकबन्दी पाठक जी की श्रेष्ठता ही प्रकट करने के लिए लिखी गई थी। गुरुजी के उक्त पद्य का शीर्षक था "वैयाकरण उद्गार"। पाठक जी ने इसके उत्तर मे "उद्गार चिकित्सा" शीर्षक के अतर्गत निम्न पक्तिया लिखी—

"कविता नई निराला छंद ।
दाल भात में मूसरचंद ॥"

इस के पश्चात विवाद तीव्रतर हो गया । गुरुजी ने "चिकित्सा की फीस" लिखी, पाठक जी ने "फीस की रसीद" लिखी फिर गुरुजी ने "रसीद का धन्यवाद" लिखा।

"सुनकर कविता के गुण गान ।
श्रीधर से जलना भगवान ॥
जन्मे कभी न यह अभिमान ।
इसमें नहीं हमारा त्राण ॥"

पाठक जी ने जवाब दिया।

"श्रीवर से जलते क्यों आप ?
दस्यु चाल चलते क्यों आप ?"

इस पर गुरुजी ने लिखा।

"पढ़ने के बदले खिसलाना ।
भली बात पर भौंह चढ़ाना ।
अकल कहेगा इसको कौन ?
बैल न कूदा कूदी गौन ?"

जब वाद-विवाद द्रौपदी के चीर की तरह बढ़ता ही चला, तब कई मित्रों और विद्वानों ने मध्यस्थ होकर उसे शांत करा दिया । पर कई दिनों तक हिन्दी पाठकों में इससे दिलचस्पी रही । सन १८९५ में रायपुर के प्रसिद्ध साहित्यप्रेमी ठाकुर हनुमानसिंहजी से आपका परिचय हुआ । इसके पूर्व गुरुजी उर्दू में शायरी करते थे । ठाकुर साहब ने उन्हें हिन्दी की ओर प्रवृत्त करने के लिए निम्न कारण बतलाए

(१) उर्दू आपकी मातृभाषा नहीं है और विदेशी भाषा में सफलतापूर्वक कविता करना कठिन होता है ।

(२) उर्दू में कविता करने वाले एक से एक बढ़कर कवि मौजूद हैं, जिनकी प्रतिद्वन्द्विता में ठहरना कठिन है । आपकी रचनाओं से उर्दू साहित्य की उल्लेखनीय सेवा नहीं हो सकती ।

हिन्दी के सम्बन्ध में ठाकुर साहब ने यह भी बतलाया कि 'आपके लिए

यह क्षेत्र बहुत विस्तृत है। यहाँ यदि आप थोडा सा काम करेंगे तो शीघ्र प्रसिद्ध हो जाएँगे।'

ठाकुर साहब की यह भविष्य वाणी अक्षरश सत्य सिद्ध हुई।

गुरुजी ने पार्वती और यशोदा, सुदर्शन, हिन्दुस्थानी शिष्टाचार, अन्त्याक्षरी, हिन्दी व्याकरण, भाषा वाक्य पृथक्करण, पद्य-समुच्चय, मध्य हिन्दी रचना, और पद्यपुष्पावली के अतिरिक्त कई भाषा, व्याकरण और कविता सम्बन्धी विवेचनात्मक निवन्ध लिखे। सन १९२६ मे नर्मदा की प्रसिद्ध बाढ के समय पीडितो के प्रति सवेदना के पद्य-वद्ध उद्गार प्रकट किये थे। इनकी भाषा मे तद्भव शब्दो का प्राधान्य रहता है। गुरुजी की भाषा मे जटिलता नही रहती और न वह अलकार मे बोझिल ही बनती है। प० महावीर प्रसाद द्विवेदी के समान ही भाषा परिष्कार की ओर इनकी दृष्टि रहती है। द्विवेदी-युग की विचार शुद्धता भी आपके साहित्य मे झलकती है और इसी से अधिकतर वह उपदेशात्मक बन गया है। नवोदित साहित्यिक विद्यार्थी की मनोभूमि तैयार करने के लिए ऐसा साहित्य नीव का काम देता है। प० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी आपकी रचनाओ को ममता की दृष्टि से देखते थे। हिन्दी खडी बोली की कविता का आदि कविता सग्रह "कविताकलाप" का सम्पादन द्विवेदी जी ने ही किया था और इने गिने जिन कवियो की रचनाएँ सकलित थी उनमे गुरुजी भी एक थे।

गुरुजी की हिन्दी के अतिरिक्त अग्रेजी, उर्दू, फारसी और मराठी मे भी गति है। 'Indian Education' नामक अग्रेजी पत्र मे ये हिन्दी रीडरो की समालोचनाएँ लिखा करते थे।

सन १९१८ मे इन्होने सरस्वती और बालसखा के सम्पादन विभाग मे भी काम किया था।

व्याकरणाचार्य गुरुजी ने हिन्दी भाषा और साहित्य की जो निस्वार्थ भाव से सेवा की है, उसका मूल्य हिन्दी ससार ने शताँश भी नही चुकाया। अब समय आ गया है कि हम अपने उस साहित्यकारो के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करें, जिनके कधो पर चढकर हमने जमीन का विस्तार देखा और आसमान के तारो को गिनने की चेष्टा की है।

|■|

जंगल में एक ही शेर रह सकता है !

श्री देवीप्रसाद गुप्त 'कुसुमाकर'

वैसे तो मैं हाई स्कूल का छात्र था तभी से मुझे मातृ-भाषा हिन्दी में लिखने से प्रेम था। किन्तु सन् १९१३ में जबलपुर कालेज में पहुँचकर मुझे श्री कामताप्रसाद जी गुरु, श्री रघुवरप्रसाद जी द्विवेदी सरीखे हिन्दी के सच्चे सेवकों से साक्षात करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनसे संपर्क हुआ जो प्रति-दिन बढ़ता ही गया और वे सदैव मुझे स्फूर्ति तथा उत्तेजना के स्रोत रहे और उनका मैं आज भी बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण करता हूँ।

मेरे कालेज (लालखाना) के पास ही नॉर्मल स्कूल था जहाँ गुरु जी अध्यापक थे, और मैं कालेज होस्टल में ही रहता था। इसलिये द्विवेदी जी के पास जाने के सुअवसर कम आते थे, परन्तु गुरुजी के पास जाने के अधिक। जब जाता तब आत्मीयता-पूर्ण स्नेह के साथ गुरु जी को प्रसन्न-मुख पाता था। समय अनुकूल होने पर घण्टों उनके पास बैठता था। उनकी अवस्था यही ३४-३५ की, सरल स्वभाव, आडम्बर से बहुत दूर, स्पष्ट और सत्यवादी परन्तु

बेहद विनोद-प्रिय । गुरु जी की योग्यता, हिन्दी की उनकी सेवा और उनकी अन्य विशेषताओं का नहीं, केवल उनकी हास्य और विनोदप्रिय दो-चार बातों का ही मैं यहाँ उल्लेख करूँगा ।

१

हमारे कालेज और नार्मल स्कूल के बीच मे सिर्फ कम्पाउण्ड की दीवाल थी । एक दिन मैं और मेरे एक सहपाठी दीवाल फाँदकर नार्मल स्कूल गुरु जी से मिलने पहुँचे, क्योंकि गुरु जी को लगभग डेढ घण्टे का अवकाश बीच मे मिलता था जिसमे वे पुस्तकें पढा करते थे । गुरु जी ने हम लोगो को दीवाल फाँदते अपने कमरे मे से ही देख लिया था । जब हम लोग पास पहुँचे, गुरु जी ने मुस्कराकर अपने सामने की पुस्तक बन्द करके अलग रख दी और बोले "कहिये, आज आने मे क्या कुछ देर हो गई थी ?"

मैंने कहा "गुरु जी, मैं इस प्रश्न का कुछ भी अर्थ नही समझा ।"

वे हँसकर बोले "कदाचित् देर हो जाने के कारण ही, समय बचाने के अभिप्राय से दीवाल फाँदकर आना पडा ।"

मैंने कुछ लज्जित होकर कहा "जी नही, यह बात तो नही है ।"

गुरु जी "तो फिर यह बात हो सकती है कि दीवाल बनवाने वाले की यह गलती आप दिखा रहे हों कि उसने उसे और ऊँची क्यो नही बनवाई ।"

इसके उत्तर की बिना प्रतीक्षा किये, गुरु जी उसी पुस्तक मे से जो कदाचित् कोई मासिक-पत्रिका थी एक कविता निकालकर पढकर सुनाने लगे ।

२

गुरु जी गढ़ाफाटक मुहल्ले में रहते थे । गर्मी की छुट्टियो मे कालेज का होस्टल बद हो जाने के कारण मैं भी अपने मित्र स्वर्गीय नारायणप्रसाद जी श्रीवास्तव के पास, दो महिने को इस इरादे से ठहर गया था कि वहीं रह कर पढूंगा । श्रीवास्तव जी भी गढाफाटक मे ही रहते थे । मुझे सुयोग मिल गया । एक दो दिन मे अवश्य गुरु जी के पास जाता था । कोई नई रचना जो गुरु जी के आग्रह से या उनके निर्वाचित विषय पर लिखता था, उन्हें बतलाता

था। वे उसे बड़े प्रेम से, आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के पास, अपनी किसी रचना के साथ 'सरस्वती' में छपने को भेज देते थे।

एक दिन दोपहर को मैं एक कविता लेकर पहुँचा। गुरु जी भोजन कर रहे थे। मुझे भीतर ही बुलवा लिया।

देखते ही बोले "आओ, तुम भी भोजन कर लो।"

मैंने कहा 'नहीं गुरुजी, आप भोजन करें, मैं बैठा हूँ।"

गुरु जी "मैं भोजन करूँ और तुम बैठे देखो, यह अच्छा नहीं मालूम होता।'

मैं "जी नहीं, मैं बैठा देखूँगा नहीं, आपसे बातें करूँगा। आपको कविता पढ़कर सुनाऊँगा।"

गुरु जी "परन्तु इन दोनों में पेट भरने का नहीं। हाँ, कविता मस्तिष्क का भोजन हो सकती है। परन्तु पेट वह भी नहीं भर सकती। हमारे देश में तो बिलकुल ही नहीं।"

३

एल० एल० बी० पास करने के बाद मैंने जबलपुर में १९२० में वकालत शुरू की थी श्री नाथूराम हीरालाल जी मोदी के साथ। उनने असहयोग आन्दोलन में वकालत छोड़ दी और उनके दफ्तर में बैठने लगा। एक दिन गुरु जी आये। मैंने श्रद्धापूर्वक प्रणाम करके उन्हें बिठाला।

आप बोले "यह न समझना कि कोई मुकदमा लेकर आया हूँ।"

मैं "जी नहीं, आप क्यों मुकदमाबाजी करने चले आपको तो व्याकरण-कार्य में ही फुरसत नहीं है।"

उनके हाथ में 'सरस्वती' या कोई दूसरी मासिक-पत्रिका थी। उसमें व्याकरण-सम्बन्धी एक किसी लेखक का लेख दिखाकर बोले

"यह देखो, अब तो हिन्दी व्याकरण पर एक अन्य महाशय ने भी एक लम्बा लेख लिखा है।"

मैंने कहा "गुरु जी, यह (व्याकरण) तो एक जंगल है।"

गुरु जी (मुस्कुराकर) "हाँ, जंगल तो है, परन्तु उसमें एक ही शेर रह सकता है।"

मैंने कहा "आपने कैसे जाना कि ये महाशय शेर हैं। जंगल में शेर ही नहीं दहाड़ता, गीदड़ भी बोलते हैं।"

गुरु जी जो आत्म-प्रशंसा से बहुत दूर रहते थे कुछ लजा से गये और बोले

"देखो जी, मैं 'जंगल' शब्द को सुनकर कुछ ऐसी बात कह गया जो मुझे नहीं कहना था। तुम इसका जिक्र किसी से न करना। बोलो, नहीं करोगे न ?

मैंने कहा "गुरु जी, यह तो अपने सरल विनोदी स्वभाव के कारण आपने कह दिया, यह मैं जानता हूँ। मैं किसी से, अब आपके जतला देने पर नहीं कहूँगा।"

गुरु जी लगभग एक घंटे बैठे। दूसरी बातें करते रहे। परन्तु बीच में एक दो बार उन्होंने किसी से जिक्र न करने के लिये फिर कहा। मैंने उन्हें आश्वासन दिया। परन्तु अपने कहे पर वे कुछ पश्चात्ताप सा करते दिखाई दिये। मैंने भी कभी किसी से यह बात नहीं कही, आज लिख रहा हूँ। सो भी यह बताने के लिये कि गुरुजी आत्म-प्रशंसा से कितनी दूर रहते थे। धोखे में अनायास ही और विनोद में एक जरा सी बात उनके मुह से निकल गई उसके लिये उन्होंने कितना पश्चात्ताप किया।

४

एक बार पं० रघुवरप्रसाद जी द्विवेदी के यहाँ गुरु जी और मैं दोनों ही बैठे थे। 'हितकारिणी' पत्रिका के सम्बन्ध में कुछ बात हो रही थी। 'हितकारिणी' के सम्पादक द्विवेदी जी थे और उसका बहुत सा काम नर्मदाप्रसाद जी मिश्र करते थे जो 'हितकारिणी' हाई स्कूल में अध्यापक थे। मैं भी 'हितकारिणी' में बहुत कुछ लिखा करता था। कुछ दिन पहले से ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन की परीक्षाएँ भी शुरू हुई थीं।

मैंने कहा "गुरु जी, यदि आप सलाह दें, तो किसी परीक्षा में मैं भी बैठ जाऊँ।"

गुरु जी सुनकर मुस्कराये। द्विवेदी जी, कुछ ऊँचा सुनते थे, गुरु जी का मुस्कराना देखकर पूछने लगे क्या बात है ?

गुरु जी "गुप्त जी सलाह ले रहे हैं हिन्दी साहित्य सम्मेलन की किसी परीक्षा मे बैठने के लिये।"

द्विवेदी जी "तो इसमे हँसने की क्या बात है, सलाह दीजिये।'

गुरु जी (मुझसे) "अच्छा है, इस साल तुम परीक्षा मे बैठ जाओ। परसाल हम और द्विवेदी जी भी बैठेंगे।"

यह बात गुरु जी ने जोर से नही कही। द्विवेदी जी बराबर न सुन सके और उनने पूछा कि क्या सलाह दी।

गुरु जी "मैंने इनको और आपको दोनो को सलाह दे दी।" ऐसा कहकर गुरु जी ने अपनी बात दोहराई, सुनकर द्विवेदी जी भी हँसने लगे और बोले

द्विवेदी जी—"हाँ, तुम बैठोगे तो शायद हम सब लोगो को भी बैठना पड़ेगा।"

गुरु जी "लेकिन फिर परीक्षक कहाँ से आएँगे ?"

हो सकता है इसके बाद ही गुरु जी या द्विवेदी जी ने लिखा हो। और कदाचित् उसी का परिणाम यह हुआ कि बाद मे कोई १२, १४ वर्षों तक प्रथमा के साहित्य के तीसरे परीक्षा पत्र का एक परीक्षक मैं रहा।

|■|

'हिन्दी के महासमुद्र में प्रकाश स्तंभ !'

श्री शालग्राम द्विवेदी

मध्यप्रदेश मे शिक्षा की प्रगति का श्रेय श्रीमान् स्पेन्स साहब को सर्वाधिक है। वे यहाँ १८६१-६२ मे आये थे। उनका कार्यक्षेत्र पहले नागपुर में था। जबलपुर मे १८६७ के आसपास आये।

शिक्षा जगत की अपूर्व सेवा कर उन्होने १६२० मे अवकाश ग्रहण किया। जब वे अपने देश जाने की तैयारी मे अपना सामान बंधवा रहे थे। मैंने उन्हे बहुत बहुत धन्यवाद दे अपनी कृतज्ञता ज्ञापित की। न मालूम किस प्रेरणा से मैं उनसे पूछ बैठा यहाँ मध्यप्रदेश मे, विशेषकर जबलपुर मे, आपसे ही सबने कुछ न कुछ सीखा है। क्या यहां भी कोई व्यक्ति मिला जिनसे आपको कोई प्रेरणा प्राप्त हुई अथवा कुछ सीखने का अवसर मिला हो? वे बोले "हिन्दुस्थान मे आने के पहले मैं अपने देश मे एक ग्रामर स्कूल का हेडमास्टर था। मैं वहाँ अंग्रेजी भाषा की ग्रामर का बहुत बडा पडित माना जाता था। मेरी धारणा थी कि अंग्रेजी भाषा की ग्रामर मे कुछ विशेष बाते

ऐसी हैं जो दूसरी किसी भाषा में न मिलेगी। पर यहाँ पंडित के० पी० गुरु से मिलने पर मुझे यह सीखने को मिला कि संस्कृत-व्याकरण तथा हिन्दी-व्याकरण में जो कुछ विशेष बातें हैं वे अंग्रेजी ही क्यों लेटिन तथा रोमन भाषा में भी नहीं मिलेंगी। इस प्रकार मैं श्री गुरु जी का बहुत अनुगृहीत हूँ।"

राय बहादुर हीरालाल साहब हिन्दी के अनन्य सेवक थे। वे डिपुटी कमिश्नर होकर रिटायर हो चुके थे। उनने भारत वर्ष के प्राचीन स्थानों की खोज तथा शिलालेखों पर जो काम किया था उसके कारण उनका नाम देश-विदेशों में प्रसिद्ध हो चुका था। उनके 'जबलपुरिया' नाम से कई लेख 'हितकारिणी' में छप चुके थे। एक बार श्री गुरुजी के साथ मैं उनसे मिलने गया था। वे बहुधा राइट टाउन में वर्तमान स्टेडियम के पास एक बँगले में ठहरा करते थे। वे नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस, के सभापति कई वर्ष रहे। वे सदैव प्राचीन वस्तुओं की खोज के कार्य में लगे रहते थे। एक बार परिचय होने के बाद मैं उनसे यदाकदा मिलता रहता था। एक दिन श्री गुरुजी की चर्चा निकल पड़ी, तो उनने श्री गुरुजी की बड़ी प्रशंसा की। उनने एक प्रसंग सुनाया कि गुरुजी दिखावा या कोरी प्रशंसा कभी नहीं चाहते थे। जब नागरी प्रचारिणी सभा ने श्री गुरुजी की हिन्दी-व्याकरण छापने का निश्चय किया तो श्री हीरालाल साहब को यह कुछ खटका कि श्री गुरुजी के नाम के साथ कोई पदवी लगी होती तो अच्छा होता। उनने रायल एशियाटिक सोसायटी का सदस्य बन जाने का अनुरोध किया जिससे उनके नाम के साथ एम आर ए एस शब्द लिखे जा सकें तो श्री गुरुजी उसके सदस्य होने को राजी नहीं हुए। बड़ी कठिनाई से तथा पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के द्वारा कहे जाने पर केवल दो वर्ष के लिए उनने सदस्य होना स्वीकार किया था और उक्त पुस्तक के पहले संस्करण पर उनके नाम के साथ एम आर ए एस शब्द जोड़े जा सके थे। जब मैंने हिन्दी-व्याकरण के संबंध में हीरालाल साहब की सम्मति पूछी, तो वे बोले "श्री गुरुजी की यह कृति हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है। उनने उसके लिखने में कितना अध्ययन, मनन एवं परि-शीलन किया है इसका पता उस समय सब को मिला जब काशी-व्याकरण-संशोधन-समिति की निर्णायक बैठक हुई।

इसके बाद श्री हीरालाल साहब ने श्री गुरुजी के सम्बन्ध में और कई बातें बताईं जो प्रशंसा से भरी थीं। साथ ही उनने एक बात और कही। उनने कहा 'श्री गुरुजी अपने शिष्यों के दोष नहीं देखते। कभी कोई उन शिष्यों का दोष उनसे कहता है तो वे उस दोष को गुण रूप में बदलकर उसकी प्रशंसा ही करते हैं।' आगे उनने कहा कि मैं कभी इस विषय में पंडित विनायकरावजी से भी मिलूँ और श्री गुरुजी के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त करूँ तो उनसे कुछ और नई बातें मालूम हो सकेंगी। पंडित विनायकरावजी भी दूसरों के दोष न देखकर उनमें गुण ही ढूंढ लेते हैं। यह उनके हृदय की महानता तथा आचरण की पवित्रता है। मैंने इस बार उनका बहुत समय लिया था, अतः क्षमा माँगकर विदा ली।

मेरे मन में एक उत्सुकता बनी थी कि पंडित विनायकरावजी से भी मिला जाय। श्री गुरुजी के साथ उनके पास दो-एक बार हो आया था। इस बार अकेला गया। मिलते ही उनने श्री गुरुजी के सम्बन्ध में पूछताछ की तथा कुशलता जानकर प्रसन्नता प्रकट की। मैंने श्री हीरालाल साहब की चर्चा कर उनसे श्री गुरुजी के सम्बन्ध में उनके विचार जानना चाहा। वे बोले 'गुरुजी हमें व्याकरण की पोथी दे गये हैं। वह तो विशाल ग्रंथ है। मेरी दृष्टि में वह ग्रंथ हिन्दी के महासमुद्र में प्रकाश-स्तम्भ का काम करेगा। अब कोई भी उसके सहारे अपनी हिन्दी-रचना की नाव बेखटके चला ले जा सकता है, और दोषों को ढाँकने की बात जो श्री हीरालाल जी ने कही, तो यह तो बड़ा भारी गुण है। हमारे भगवान् राम ने एक बार सुग्रीव और विभीषण को शरण में ले लिया। फिर उनके दोष नहीं देखे, प्रत्युत उनकी प्रशंसा वशिष्ठ जी से कह डाली। मैं गुरुजी को बहुत वर्षों से जानता हूँ। इस व्याकरण के कारण उनने हिन्दी का मस्तक अन्य भारतीय भाषाओं के सामने बहुत ऊँचा उठा दिया है। "गुरुजी मध्यप्रदेश के ही नहीं, हिन्दी-साहित्य-संसार के गौरव हैं।" इसी प्रसंग में उनने श्री सप्रेजी का नाम लिया और बताया कि सप्रेजी पिछली बार जब उनसे मिलने आये थे, तब गुरुजी की व्याकरण की बड़ी प्रशंसा सुना गये थे।

श्री सप्रेजी से मैं समय निकालकर कभी-कभी मिल लिया करता था। इस बार मिलने पर उनने ही श्री गुरुजी की व्याकरण की भूरि-भूरि प्रशंसा की। वे इसके पहले स्वयं श्री गुरुजी के घर जाकर बधाई दे आये थे। मैंने

श्रद्धेय पंडित विनायकरावजी की चर्चा की तो उनने सहमति प्रकट करते हुए कहा "मैं तो इसे 'प्रकाश-स्तम्भ' न कहकर ध्रुवतारा कहूँगा, क्योंकि अब कोई भी जो व्याकरण विषय पर कलम चलावेगा वह इसी ग्रंथ से सामग्री लेकर उसी के आधार पर लिखेगा। उसकी परिधि के बाहर आगामी सौ वर्ष के भीतर शायद ही कोई इससे बढ़कर लिख सके।" इसके बाद उनने श्री गुरुजी के सम्बन्ध मे पुराने कुछ संस्मरण सुनाये, जब श्री गुरुजी कुछ दिन छत्तीसगढ़ मे सेवा कार्य कर चुके थे तथा श्री सप्रेजी के द्वारा सम्पादित छत्तीसगढ़-मित्र मे अपनी रचनाएँ भेजा करते थे। वहाँ रहते हुए श्री गुरुजी ने छत्तीसगढ़ी भाषा का अध्ययन बड़ी गम्भीरता से किया था तथा वहाँ के कवियो तथा लेखको की कृतियो की प्रशसा प्रकाशित की थी।

एक दिन मैं श्री गुरुजी के पुराने साथी प० गंगाप्रसाद जी अग्निहोत्री से मिला। उन्हे भी श्री गुरुजी अपनी व्याकरण की एक प्रति भेंट कर आये थे। उनने कहा "मैं श्री गुरुजी को अभी तक हिन्दी का एक श्रेष्ठ कवि तथा लेखक, विशेषकर, खरा आलोचक मानता था, पर इस ग्रंथ ने उन्हे निस्सन्देह हिन्दी का पाणिनी बना दिया। वे हिन्दी-साहित्य-ससार के द्वारा प्रशसा के पात्र हैं। इस ग्रंथ के द्वारा उनने अमरत्व प्राप्त कर लिया। हिन्दी-जगत् सदैव उनका ऋणी रहेगा। श्री गुरुजी मेरे बहुत पुराने साथी तथा स्नेही हैं और मैं मात्र इस नाते उनकी प्रशंसा नही कर रहा। वे इस ग्रंथ के द्वारा ध्रुव कोटि का स्थान पा गये हैं। पर खेद है कि हिन्दी ससार तथा इस विदेशी राज ने उनका उचित सम्मान नहीं किया। यदि उनका जन्म जर्मनी या अमेरिका मे हुआ होता तो ऐसे ग्रंथ लेखक को नोबिल-पुरस्कार से सम्मानित किया जाता।"

■

राजस्थान-रा-दुर्ग

सरस्वती-साधक के सम्मान-संदर्भ

डॉ श्रीशकुमार

कामताप्रसाद गुरु निष्ठावान सुधी थे और सार्वजनिक समारोहो से तथा आत्म प्रचार से बहुत दूर रहते थे। वे अखिल भारतीय तथा प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कई अधिवेशनो मे सम्मिलित हुए, पर कभी कोई पद उनने ग्रहण नही किया। ज्ञानार्जन और पठन-पाठन का व्यसन ही उनकी साहित्य-साधना को और फलदायिनी बनाता रहा। १९२० में वृहत् व्याकरण के प्रकाशन ने उन्हे साहित्य-क्षेत्र मे अग्रणी बनाया। मध्यप्रदेश शासन के शिक्षा विभाग ने एक स्वर्णपदक प्रदान कर गुरुजी का सम्मान १९२३ मे एक सादगी पूर्ण समारोह मे किया। ट्रेनिंग कालेज के प्रिंसिपल स्पेंस ने विनायकराव जी, लज्जाशकर झा, रघुवरप्रसाद द्विवेदी आदि की उपस्थिति मे उन्हे अर्पित किया। सरस्वती-साधना का यह स्वर्ण-प्रतीक ४२ वर्ष बाद राष्ट्र-सुरक्षा-कोष के लिए प्रेरणा-स्रोत बना जब सार्वजनिक

नगर में सुरक्षा मंत्री यशवंत राव चव्हाण की उपस्थिति में पंडित भवानी प्रसाद तिवारी ने नीलामी संपादित की। संपूर्ण विवरण स्मरणीय तो है ही साथ ही राष्ट्रीय सेवा भावना से ओतप्रोत भी है।
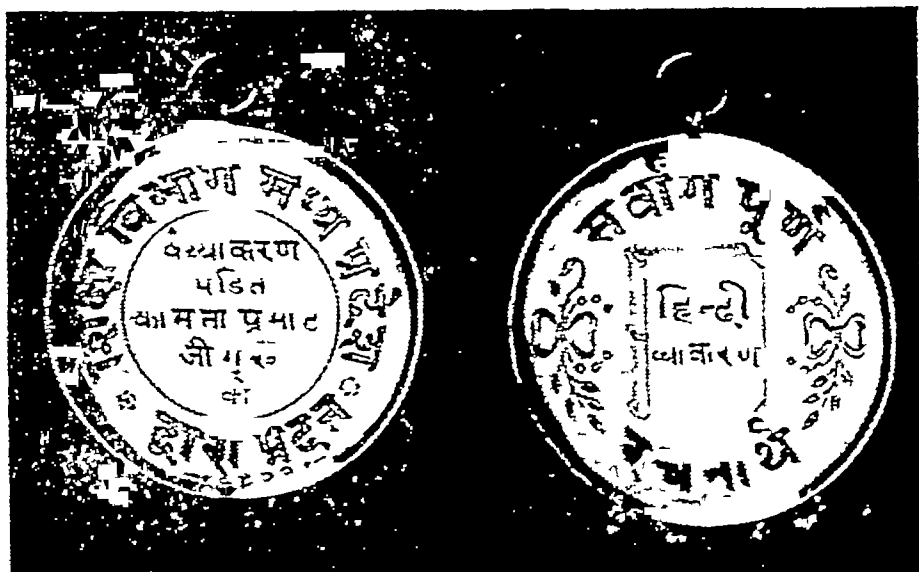
शिक्षा विभाग द्वारा प्रदत्त स्वर्णपदक

(समाचार विवरण)

जबलपुर, ८ अक्टूबर। हिन्दी के ख्याति प्राप्त व्याकरणाचार्य और मध्यप्रदेश के प्रतिष्ठित साहित्यसेवी स्व० पं. कामताप्रसाद गुरु का स्वर्ण पदक कल रात्रि यहां राष्ट्रीय सुरक्षा कोष के लिए १२५० रु. की धनराशि अर्जित करने मे समर्थ हुआ। दो तोला वजन का यह ऐतिहासिक महत्व का स्वर्ण पदक श्रीनाथ की तलैया मैदान मे सुरक्षा मंत्री श्री यशवंतराव चव्हाण के सम्मान मे आयोजित की गई जनसभा में लगभग २५ हजार व्यक्तियों की उपस्थिति में सार्वजनिक नीलाम हेतु रखा गया था।

उल्लेखनीय है कि हिन्दी के पाणिनि प० कामताप्रसाद गुरु को दो तोले वजन का यह स्वर्णपदक सन १९३० के लगभग पुराने मध्यप्रदेश और

विदर्भ के शिक्षा विभाग ने उनको हिन्दी का प्रथम मान्य और अधिकृत व्याकरण तैयार करने के उपलक्ष्य मे दिया था ।

अपने दिवंगत पति की यह स्मृति जबलपुर पत्रकार संघ को स्व० गुरुजी की धर्मपत्नी और जबलपुर नगर निगम के भूतपूर्व महापौर एवं नामी पत्रकार पं० रामेश्वर प्रसाद गुरु की मातृश्री श्रीमती लीलावती गुरु ने राष्ट्रीय सुरक्षा कोष के हेतु प्रदान की थी । गत दस महीनो से यह स्वर्ण पदक जबलपुर पत्रकार संघ के पास सुरक्षित था और वह उसको "रासुको" मे देने के लिए उपयुक्त अवसर की तलाश मे था । कल श्री चव्हाण की जन-सभा उस कार्य के लिये हर दृष्टि से उपयुक्त समझी गई ।

नगर के प्रतिष्ठित नागरिक और प्रमुख ठेकेदार श्री बनारसीदास भानोट ने सबसे अधिक १२५० रुपये की बोली लगाकर गुरुजी के उस स्वर्ण पदक को खरीदा । ठीक उसके बाद ही श्री भानोट ने वह ऐतिहासिक महत्वपूर्ण स्वर्ण पदक मध्यप्रदेश सरकार को वापिस कर दिया जिससे कि उसे जबलपुर मे संग्रहालय बनने तक, देश के किसी राष्ट्रीय महत्व के संग्रहालय मे उसके पूरे इतिहास के साथ रखा जा सके ।

स्वर्ण पदक की नीलामी की क्रिया जबलपुर के भूतपूर्व महापौर पं० भवानीप्रसाद तिवारी ने संपादित की थी । नीलामी की २५० रुपये की पहली बोली जबलपुर पत्रकार संघ ने ही लगाई थी ।

■

व्याकरण की पाडुलिपि जब गुरुजी ने ८ वर्षों के अथक परिश्रम के पश्चात् सभा को विचारार्थ अर्पित की तब व्याकरण संशोधन समिति ने उस पर गंभीरता पूर्वक विचार कर निर्णय लिया कि गुरुजी ने व्याकरण बडी गवेषणा से लिखा है । व्याकरण प्रकाशन के योग्य है और उसके प्रणेता तथा समिति के सहयोगी कामताप्रसाद गुरु को साधुवाद दिया जाता है ।

(सभा के निर्णय की प्रतिलिपि)

श्रीयुत मंत्री,

नागरी प्रचारिणी सभा,

काशी।

महाशय,

सभा के निश्चय के अनुसार व्याकरण-संशोधन-समिति का कार्य बृहस्पतिवार आश्विन शुक्ल ३ संवत् १९७७ (तारीख १४ अक्तूबर १९२०) को सभाभवन मे यथासमय प्रारम्भ हुआ। हमलोगों ने व्याकरण के मुख्य मुख्य सभी अंगों पर विचार किया। हमारी सम्मति है कि सभा ने जो व्याकरण विचार के लिये छपवाकर प्रस्तुत किया है वह आज तक प्रकाशित व्याकरणों से सभी बातो मे उत्तम है। वह बड़े विस्तार से लिखा गया है। प्राय कोई अंश छूटने नहीं पाया। इसमे सदेह नहीं कि व्याकरण बड़ी गवेषणा से लिखा गया है। हम इस व्याकरण को प्रकाशन योग्य समझते हैं और अपने सहयोगी पंडित कामताप्रसाद जी गुरु को साधुवाद देते हैं। उन्होने ऐसे अच्छे व्याकरण का प्रणयन करके हिंदी साहित्य के एक महत्वपूर्ण अश की पूर्ति कर दी।

जहां जहां परिवर्तन करना आवश्यक है उसके विषय में हमलोगों ने सिद्धांत स्थिर कर दिए हैं। उनके अनुसार सुधार करके पुस्तक छपवाने का भार निम्नलिखित महाशयों को दिया गया है

(१) पंडित कामता प्रसाद गुरु
असिस्टेंट मास्टर, माडर्ल स्कूल, जबलपुर
(व्याकरण के प्रणेता)

(२) पडित महावीर प्रसाद, द्विवेदी
जुही कलां, कानपुर

(३) पंडित चंद्रधरशर्म्मा गुलेरी बी० ए०
जयपुर भवन, अजमेर

निवेदनकर्ता

महावीर प्रसाद द्विवेदी	रामावतार शर्मा	लज्जाशंकर झा
रामनारायण मिश्र	जगन्नाथ दास	श्रीचंद्रधर शर्मा
रामचंद्र शुक्ल	श्यामसुदर दास	कामताप्रसाद गुरु

■

नागरी प्रचारिणी सभा ने सरस्वती-पुत्र गुरुजी का सम्मान अपने अर्धशती महोत्सव के अवसर पर १९४४ मे अभिनदन-पत्र समर्पित कर के किया। नागरी प्रचारिणी सभा और कामताप्रसाद गुरु के सबध, सहयोग और पारस्परिक भाव एक दूसरे के पूरक हैं। सभा के प्रधान मत्री ने पत्र लिखकर साग्रह अनुरोध किया था कि कृतज्ञतापूर्वक अर्पित किये गये इस पत्र-पुष्प को कृपया स्वीकार करे।

हिन्दी की एक-मात्र राष्ट्रीय संस्था
काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से
हिन्दी-भाषा और साहित्य के अनन्य उपासक
व्याकरणाचार्य्य श्री कामताप्रसाद गुरु की सेवा मे

अभिनन्दन पत्र

मातृ भाषा के पावन पुजारी,

काशी नागरी प्रचारिणी सभा अपने इस अर्द्ध-शती महोत्सव के शुभ अवसर पर आपका सादर अभिनन्दन करती है।

आप सरस्वती के वरद पुत्र हैं। आपने अपना जीवन हिंदी माता की सेवा मे बिताया है। यह आपकी तपस्या, साधना, परिश्रम और उत्साह का परिणाम है कि आज भारत की सभी भाषाओं के सम्मुख हिंदी गर्वोन्नत खडी है। आपने उसे राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर पुन. अभिषिक्त किया है।

जो चन्द्र की ज्योत्स्ना मे अवतरित हुई, जो मीरा की गोद मे पली, सूर और तुलसी ने जिसे वाणी प्रदान की, विद्यापति ने जिसे सुघरई दी, बिहारी, देव तथा पद्माकर ने जिसे अलंकृत किया, सदासुख और घनानंद ने जिसे सवारा, भारतेंदु ने जिसके अधरों को ताम्बूल रंजित किया, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र और पद्मसिंह शर्मा ने जिसे स्फूर्ति दी, रत्नाकर, प्रेमचन्द, प्रसाद तथा रामचन्द्र शुक्ल ने जिसका अनुपम शृंगार किया उसको आपने अनेक उत्कृष्ट उपायों से योग्य बनाया है कि वह आज करोड़ो भारतवासियो के हृदय की सम्राज्ञी है।

आपने इन्हीं महात्माओ की परम्परा पर चलकर अपनी प्रतिभा के बल

से हिंदी साहित्य का भंडार भरा है, मातृभाषा की शोभा बढाई है। आपने अपने बुद्धिबल की पुष्पावली राष्ट्रभाषा की वेदी पर अर्पित की है तथा भावी पीढियो के सम्मुख मातृभाषा की निस्वार्थ सेवा का आदर्श रखा है।

आपका सम्मान हिन्दी भाषा का सम्मान है, आपका आदर राष्ट्रभाषा के प्रति प्रेम-प्रदर्शन है। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की ओर से हम आपको बधाई देते हैं और समस्त हिन्दी भाषा-भाषियो की ओर से आपके साहित्यानुराग, साहित्य-सेवा तथा साहित्य-सृजन के प्रति समादर तथा सम्मान समर्पित करते हैं। भगवान से प्रार्थना है कि आप दीर्घजीवी होकर सदा इसी प्रकार हिन्दी की सेवा करते रहें और आप ऐसे मातृभाषा सेवक देश मे सम्भूत होते रहें।

संपूर्णानन्द — सभापति

रामचन्द्र वर्मा — प्रधान मंत्री

■

हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने गुरुजी की साहित्य सेवा को पुरस्कृत किया। कराची अधिवेशन मे उन्हे साहित्य-वाचस्पति की उपाधि प्रदान की गई और उन्हे ताम्रपत्र प्रेषित किया गया। यह सम्मान गुरुजी को साहित्य सम्मेलन ने १९४६ मे दिया था।

(ताम्रपत्र)

हिन्दी–साहित्य–सम्मेलन, प्रयाग

साहित्य वाचस्पति

श्री कामताप्रसाद गुरु जी को उनकी अमूल्य हिन्दी-सेवा के उपलक्ष्य मे यह सम्मेलन, स्थायी समिति की २२ वैशाख, संवत् २००३ की बैठक के निश्चय संख्या ३ के अनुसार, सम्मानार्थ साहित्य वाचस्पति की उपाधि अर्पित करता है और उसके प्रमाण मे यह ताम्रपत्र प्रदान करता है।

रामकुमार वर्मा — परीक्षा मंत्री

वियोगी हरि — सभापति

कराची
२२ पौष, २००३

मौलिचन्द्र शर्मा — प्रधान मंत्री

■

सच्ची सरस्वती साधना अयाचित सम्मान पाती है और साधना की यही सच्ची कसौटी है। प्रात की और नगर की अनेक साहित्य सस्थाओ ने उनके न चाहते हुए भी उनका अभिनदन किया।

उनके निधन को २९ वर्ष हो गये पर काल-गति उनकी उपलब्धियों को और ख्याति को धूमिल नही कर सकी।

जन्म शती पर उनकी स्मृति मे पहिला सम्मान आयोजन नागरी प्रचारिणी सभा ने किया जहाँ राष्ट्रपति फखरुद्दीन अली अहमद ने गुरुजी के चित्र को माला पहनाते हुए अपनी श्रद्धाजलि अर्पित की और कहा "श्री गुरुजी ने व्याकरण लिखकर हिन्दी को एक आधार प्रदान किया। उन्होने हिन्दी की अमूल्य सेवा की है जिसे भुलाया नही जा सकता ?"

■

उनके जन्म स्थान सागर मे सागर वि वि ने जन्मशती पर सगोष्ठी आयोजित की जिसमे डॉ देवेन्द्र नारायण शर्मा, कुलपति पटना वि वि, डॉ टी एस मूर्त्ति, कुलपति सागर वि वि, डॉ भगीरथ मिश्र ने अपने सम्मान-पुष्प सागर-रत्न कामताप्रसाद गुरु को अर्पित किये।

■

हिन्दी की प्रमुख सस्था हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने डॉ हरदेव बाहरी के प्रमुखत्व मे गोष्ठी आयोजित की और गुरुजी के व्याकरण को मानक हिन्दी बनाने मे आधार स्तभ निरूपित किया।

■

गुरुजी की कर्मस्थली जबलपुर नगरी मे जबलपुर वि वि. ने अपने वरद पुत्र के सम्मान मे गोष्ठी की जिसमे बाबूराम सक्सेना, उदयनारायण तिवारी सदृश मूर्धन्य विद्वानो ने भाग लिया।

■

मध्यप्रदेश शासन ने अपने पुनीत कर्त्तव्य का निर्वाह जन्मशती के उपलक्ष्य मे भव्य साहित्य-समारोह आयोजित करके किया।

■

२७-२-१९७६ को नागरीप्रचारिणी सभा, काशी मे हुए व्याकरणाचार्य श्री कामताप्रसाद गुरु जन्मशती समारोह मे महामहिम राष्ट्रपति श्री फखरुद्दीन अली अहमद उद्घाटन भाषण देते हुए (बाएँ से) श्री डा० रत्नाकर पाडेय (समारोह कार्यक्रम के सचालक), श्री प० करुणापति त्रिपाठी (सभा के प्रकाशन मत्री और संपूर्णानद सस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति), श्री सुधाकर पाडेय (सभा के प्रधान मत्री) और महामहिम डा० मधु चेन्ना रेड्डी (उत्तर प्रदेश के राज्यपाल)।

राष्ट्रीय हिंदी मन्दिर का राष्ट्रीय अधिवेशन (१९२६)
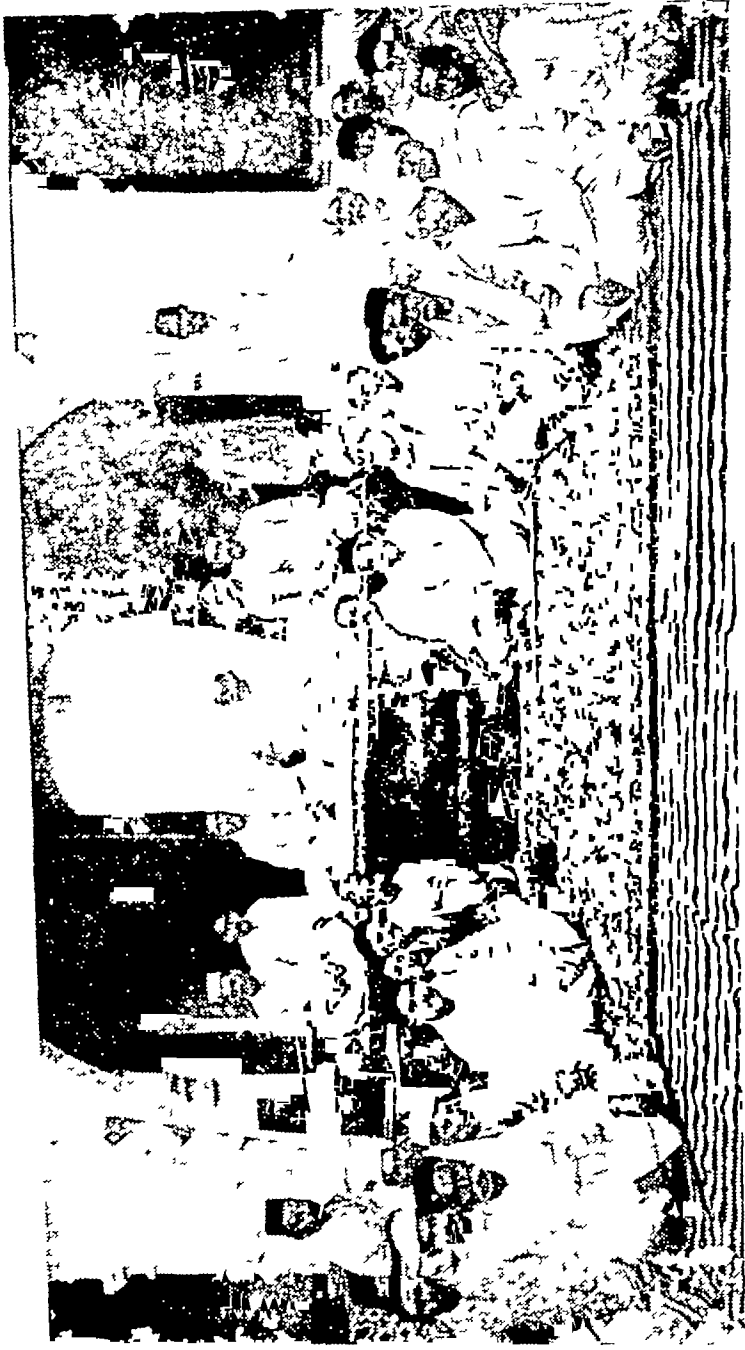
स्वागताध्यक्ष कामताप्रसाद गुरु अध्यक्ष शिवप्रसाद गुप्त के साथ।
साहित्यिको मे द्वारका प्रसाद मिश्र, धीरेन्द्र वर्मा, बाबूराम सक्सेना, रघुवर प्रमाद द्विवेदी, गगा प्रसाद अग्निहोत्री, सेठ गोविन्द दास, रामचन्द्र केशव प्रसाद पाठक, सघी आदि (१९२६)

गोपालबाग जबलपुर मे अभिनीत एक नाटक मे नायक का अभिनय करते हुए केन्द्र मे कामताप्रसाद गुरु (१६१८)

कामताप्रसाद गुरु अपने पिता गंगाप्रसाद गुरु तथा अपने शिष्यों के साथ (१८९८)

कामताप्रसाद गुरु अपनी माता श्री के साथ (१९२०) उनके पुत्र जागेश्वर, रामेश्वर और राजेश्वर भी चित्र में है।

आचार्य म. प्र. द्विवेदी का पत्र गुरुजी को

श्रीहरिः ।

चिरगाँव

3-9-29

प्रिय गुप्तजी,

[illegible]

श्री मैथिलीशरण गुप्त का पत्र गुरुजी को

श्री गगाप्रसाद अग्निहोत्री का पत्र गुरुजी को

गुरुजी का पत्र श्री लोचन प्रसाद पाण्डेय को

(हस्तलिपि)

पत्र-प्रसंग

साहित्यिक-पत्राचार

डॉ० कृष्णकान्त चतुर्वेदी

पत्र-व्यवहार अपने आप मे शिष्टाचार का अविभाज्य अग है। पत्र व्यवहार मे नियमितता, प्रासगिकता, शब्द-सयतता, विचार-प्राजलता तथा भाषा-प्रवहता के गुण स्वाभाविक रूप से रहते है। गुरुजी का पत्र व्यवहार इन गुणो का समन्वय था। उस समय के लगभग सभी साहित्यिको से उनका पत्र-व्यवहार समय-समय पर हुआ। पारिवारिक चिट्ठी-पत्री भी उनकी इन गुणो को आत्मसात किये हुए रहती थी जिसमे कौटुम्बिक समस्याओ का तथा सामाजिक शिष्टाचार की बाते रहती थी। पत्र अत्यन्त सुवाच्य और सुन्दर लिपि मे रहते थे।

साहित्य के क्षेत्र मे उनने व्याकरण सबधी जानकारी के लिए पर्याप्त लबे पत्र लिखे। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी को पत्र लिखकर सस्कृत, पालि प्राकृत सम्बन्धी बहुत सी तुलनात्मक बातो मे विचारो का आदान-प्रदान किया। गोविंदनारायण मिश्र, रामदहिन मिश्र, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, अयोध्यासिंह

उपाध्याय आदि को गुरुजी ने अपने वृहत् व्याकरण के लेखन के समय पत्र लिखे थे। व्याकरण क्षेत्र में उनकी प्रसिद्धि और प्रभाव-व्यापकता ऐसी कुछ गहरी थी कि शंका समाधान के लिए तथा मार्ग दर्शन के लिए जब तब उनके पास जिज्ञासुओं के, अध्यापकों के, नवलेखकों के और विद्यार्थियों के पत्र आते रहते थे। १९ जुलाई १९१९ को माखनलाल चतुर्वेदी ने बानापुरा (सिवनी-मालवा) से गुरुजी को पत्र लिखा था--

श्री गुरुजी, महाराज, सादर प्रणाम।

"हिन्दी नाटक-पात्रों की भाषा' पर प्रकाश डालने की कृपा के लिए कृतज्ञता-प्रकाश। कृपया किसी लेख द्वारा यह भी प्रकट कीजिये कि लेखक स्वाभाविकता की रक्षा करते हुए कहाँ तक भाषा-नियमों में स्वछन्द रह सकता है।

इसी प्रकार पद्मकांत मालवीय ने २२ दिसम्बर १९३१ को पत्र लिखकर जानना चाहा था "बड़ी कृपा होगी यदि आप लिखने का कष्ट करें कि हिन्दी में प्रकाशित होने वाली पत्रिका को आप 'तिमाही रिसाला' कहना उपयुक्त समझेंगे अथवा 'त्रैमासिक पत्रिका'।'

गुरुजी की प्रसिद्धि प्रान्त के बाहर भी व्याकरण लिखते-लिखते फैल चुकी थी। बड़ौदा कालिज से ६० वर्ष पूर्व जिज्ञासु व्यक्ति शिवनाथसिंह ने जानना चाहा था कि How are you ? का उल्टा क्या "आपकी प्रकृति कैसी है" हो सकता है। शब्दों को विकार-सम्बन्धी शंकाओं के निवारणार्थ तो उनके पास आखिरी समाधान के लिए आते ही रहते थे। आपकी इच्छानुसार और आपकी आज्ञानुसार होना चाहिए अथवा आपके इच्छानुसार होना चाहिए। उनके अभिन्न मित्र दुर्गाशंकर मेहता ने एक लम्बा पत्र गुरुजी को भाषा के प्रति होने वाली अराजकता और उत्तरदायित्वहीनता के प्रसंग में लिखा था। यह पत्र प्रकाशित भी हुआ और उस पर चर्चा भी विभिन्न लोगों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से की।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी से गुरुजी का पत्र व्यवहार नियमित रूप से लेख, कविता, व्याकरण विषयक तथा व्यक्तिगत होता रहता था। 'सरस्वती' के सम्पादन के लिए जब गुरुजी प्रयाग गये तब द्विवेदीजी मार्गदर्शन के लिए

उन्हे कार्ड डालते रहते थे। मैथिलीशरण गुप्त और गुरुजी आत्मीयता से बँधे थे। बच्चो के लिए रीडरें लिखने का काम जब शासन ने उन्हे सौंपा तब किशोरोपयोगी एक रचना के लिए गुरुजी ने उन्हे पत्र लिखा। पत्रोत्तर गुप्तजी ने सौजन्यपूर्ण पत्र भेजा। कदाचित् बच्चो के लिए लिखी यह उनकी एकमात्र प्रसिद्ध कविता है **ओले की कहानी**। पत्र है

प्रिय पण्डित जी, प्रणाम।

"मुझे याद नही आता कि बच्चो के योग्य मेरी कौनसी कविताएँ है। एक बार ओले की कहानी आपके कहने से लिखी थी। कृपा के लिए कृतज्ञ हूँ।"

भाषा मे सुधार और परिवर्तन करने के लिए गुरुजी के पास कई एक आये। सेठ गोविंददास ने लिखा "जेल मे अवकाश मिलने के कारण मैंने कुछ नाटक लिखे है। मैं उन्हे प्रेस मे दे रहा हूँ परन्तु प्रेस मे देने के पूर्व मेरी इच्छा है कि आप सदृश मित्रो और साहित्य-मर्मज्ञो को उन्हे दिखाकर सम्मति भी लू और उस सम्मति के आधार पर यदि उनमे कुछ परिवर्तन आवश्यक हो तो वह भी कर दूँ।"

श्यामसुन्दर दास, सियारामशरण गुप्त, गिरधर शर्मा चतुर्वेदी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी आदि गुरुजी को साहित्य विषयक पत्र लिखते रहते थे। बख्शीजी ने एक पत्र मे उन्हे लिखा था- "आपके व्याकरण की समालोचना लिखने का अधिकारी मैं नही हूँ।" लोचनप्रसाद पाडेय से गुरुजी का पत्र-व्याकरण विषय को लेकर बहुत हुआ। एक पत्र मे पाडेय जी ने लिखा था "विवाद-ग्रस्त विषय का निर्णय पत्र-व्यवहार से होना कठिन है यह माना पर आप अपनी सम्मति या विचार को पत्र द्वारा प्रकट करने को तो स्वतत्र हैं न ?"

गुरुजी के व्याकरण की लोकप्रियता विदेशी विद्वानो मे पर्याप्त थी। सर जार्ज ग्रियर्सन और जूल ब्लॉक सदृश प्राच्य भाषा विशारद गुरुजी की विद्वता के और व्याकरण-ज्ञान-गहनता के प्रशसक थे। अपने पत्रो मे ग्रियर्सन ने लिखा है "It is far in advance of any other grammar" जूल ब्लॉक ने लिखा है "I had recently the opportunity at

Sir George Griyerson's home to have a look at your Hindi Vyakaran, of which Sir George spoke with high praise May I ask you for a copy which would help me much for my own knowledge and for my teaching at the Paris School of Oriental Languages " उनके व्याकरण से रूस, जर्मनी और इटली के हिन्दी भाषी विद्वान बहुत प्रभावित हुए। हिन्दी विद्वान प्योत्र बरान्निकोव ने (इनके पिता ने तुलसीकृत रामचरित मानस का रूसी अनुवाद किया है) व्याकरण का रूसी भाषा में बड़ी सफलता के साथ अनुवाद किया। अपने अनुवाद कार्य में प्योत्र बरान्निकोव ने सबंधित व्यक्तियों से न केवल पत्र-व्यवहार अपितु व्याकरण सम्बन्धी शकाओं के समाधान के लिए हिन्दी मनीषियों से पत्र व्यवहार किया। नागरी प्रचारिणी सभा के प्रधान मत्री तथा उनके माध्यम से गुरुजी के पुत्रों से जानकारी ली। इसी प्रकार इटली के प्रोफेसर तोरीतुसी ने जानकारी प्राप्त की।

गुरुजी के पत्रों की सख्या बहुत है। यदि गुरुजी द्वारा लिखित और भेजे गये पत्रोत्तर भी प्राप्त हो सके होते तो शृखलाबद्ध इतिहास-काव्य का, गद्य साहित्य का और भाषा-परिष्कार का मिल सकता और द्विवेदी युगीन साहित्य के परिप्रेक्ष्य मे गुरुजी का सही मूल्याकन हो सका होता। गुरुजी के नाम आये हुए पत्रों को भी काल-खड, विषय-खड और व्याकरण शका-समाधान खड मे विभाजित कर साहित्य की प्रगति के बारे मे बहुत कुछ जाना जा सकता है।

|■|

गुरुजी की निबन्ध रचनाएँ

हिन्दुस्थान की राष्ट्रभाषा

[५० वर्ष पूर्व गुरुजी ने हिन्दी भाषा और राष्ट्र की एकता को एक दूसरे का पूरक कहा। उस समय का स्वप्न आज साकार हो रहा है।]

हम लोग यह सुन रहे है कि हिन्दुस्थान मे राष्ट्रीय कार्यों के लिए एक राष्ट्रभाषा की आवश्यकता है और यह साधन बनने के योग्य केवल हिन्दी ही है। सभाओ और समाजो मे इस विषय के मन्तव्य पास होते हैं, व्याख्यानो मे इस पर प्रमाण दिये जाते है, और समाचार पत्रो मे इसकी समालोचनाएँ होती हैं, तो भी इन सब बातो का अभिप्राय क्या है, ठीक-ठीक समझ मे नही आता।

यदि इस आन्दोलन का यह उद्देश्य है कि चारो धाम के लोग देश की एक प्राचीन भाषा को पढकर इसकी उन्नति करें तो यह बात असम्भव है, क्योंकि जो लोग हिन्दी के सहारे अपना पेट पालते हैं, वही जब अपनी मातृ-भाषा के सामने इसे पढने की परवा नही करते, तब फिर जिन लोगों का इसमे कुछ भी स्वार्थ नही है, वे ऐसी अनुदारता का काम क्यो न करेंगे। यह बात उनकी समझ मे ही नही आ सकती कि हम अपनी मातृभाषा की उन्नति छोड

दूसरी भाषा की उन्नति क्यों करे ? और यदि इस आन्दोलन का यह उद्देश्य है कि हिन्दुस्थान के जो लोग अंग्रेजी नहीं जानते, वे हिन्दी पढकर एक-दूसरे से बातचीत करने का सुभीता प्राप्त कर ले, तो इसके लिए आन्दोलन करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि लोग परिस्थिति के अनुसार इस भाषा का थोडा बहुत ज्ञान आप ही कर लेते है।

इस लेख मे हम इस विषय पर विचार नही करते कि भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा होने योग्य हिन्दी है अथवा इसकी प्रतियोगिनी उर्दू, क्योंकि इस बात का विचार कई स्थानों मे, कई दृष्टियो से और कई युक्तियो के द्वारा हो चुका है और सब बातो का सार यही निकला है कि हिन्दी ही राष्ट्रभाषा होने की योग्यता रखती है। हमे केवल यह विचार करना है कि राष्ट्रभाषा की आवश्यकता क्यो है और हिन्दी किन-किन उपायो से राष्ट्रभाषा हो सकती है?

राष्ट्रभाषा का मुख्य उद्देश्य हमारी समझ मे, यह हो सकता है कि हिन्दुस्थान के भिन्न-भिन्न प्रदेशो के लोग इसके द्वारा उन बातो को जाने, जिनका जानना उन्हें आवश्यक है और जिन्हे वे अंग्रेजी न जानने के कारण नही समझ सकते। हम अंग्रेजी का नाम इसलिए लेते हैं कि हिन्दुस्थान मे आजकल यही राष्ट्रभाषा हो रही है, पर इस भाषा से थोडे लोगो का काम निकलता है। किसानो और दूकानदारो की बात जाने दीजिये, इस देश मे कई ऐसे भी लोग है जो अंग्रेजी न जानकर भी राष्ट्रीय गहन विषयो पर अपनी सम्मति दे सकते हैं और जिनके मत का प्रभाव सर्वसाधारण पर पड सकता है। ऐसे लोग अपनी अंग्रेजी हीनता के कारण राष्ट्रीय सभाओ मे जाते ही नहीं और यदि दैवयोग से पहुँच जाते हैं तो मूर्तिवत् मौन धारण किये बैठे रहते है। ये लोग इस प्रकार के हैं कि इनसे सुधारको का कुछ न कुछ काम अवश्य पडता है और जब वे एक-दूसरे की भाषा नही समझते तब उनमे परस्पर सहानुभूति कैसे हो सकती है और बिना इन गुणो के कार्य मे सफलता कैसे होना सम्भव है ?

राष्ट्रभाषा का दूसरा उद्देश्य यह हो सकता है कि यदि किसी सम्प्रदाय के लोग अपने विचारो का विस्तार दूसरे सम्प्रदाय के लोगों मे करना चाहे तो वे अपनी प्रान्तीय भाषा के बदले राष्ट्रभाषा का उपयोग करके अपने इष्ट की सिद्धि करे।

राष्ट्रभाषा के ये दो उद्देश्य विचारणीय है और यदि इनमे किसी को कोई विरोध नहीं है तो राष्ट्रभाषा की आवश्यकता सिद्ध है। और, इसके साथ यह भी गृहीत है कि राष्ट्रभाषा और भी कई उपयोगी कार्य साधन कर सकती है।

राष्ट्रभाषा मे जिन गुणो का प्रयोजन है वे हिन्दी मे पाये जाते है और उसकी उपयोगिता तथा व्यापकता के विषय मे कुछ लोगो को छोड कर और किसी को भ्रम नही है, इसलिए अब हमे केवल इस बात का विचार करना चाहिये कि वे कौन-कौन से उपाय हैं जिनके द्वारा हमारा यह बरसो का पुराना मनोरथ सहज ही और शीघ्र ही सिद्ध हो सकता है।

अभी तक गणित या मनोविज्ञान का ऐसा कोई सिद्धान्त नही निकला है जिससे यह जान पडे कि किसी कार्य के विचार मे और उसके सम्पादन मे समय का कितना अन्तर पडता है। कभी-कभी तो विचार और कार्य एक ही साथ हो जाते हैं और कभी-कभी उन दोनो मे सैकडो वर्षो का अन्तर पड जाता है। कभी ऐसा भी होता है कि पूरा विचार ही नही किया जाता और कार्य का आरम्भ अथवा सम्पादन हो जाता है, और कभी-कभी यह भी होता है कि सदा विचार ही होता रहता है, कभी कार्य होता ही नही। ससार मे विचार और कार्य के इस सम्बन्ध मे असख्य उदाहरण पाये जाते हैं, इसलिए यह कहना कठिन है कि जिन उपायो का वर्णन यहाँ किया जाता है वे कार्य-सिद्धि मे कहाँ तक सहायक होगे।

कई एक प्रतिभावान पुरुषो ने विचारो को कार्य मे परिणत करने के लिए स्वय हिन्दी पढना आरम्भ कर दिया है। कई लोगो ने प्रान्तीय राष्ट्रीय सभाओ मे अपने व्याख्यान हिन्दी मे दिये हैं और महाराजा बडौदा ने आवश्यक कागज पत्रो के लिए गुजराती के बदले नागरी लिपि के प्रयोग की आज्ञा जारी की है। पर इन उपायो के सिवा कही और कोई उन्नति न तो दिखाई देती है और न सुनाई देती है। इसलिए अब यदि इस विषय मे सफलता अभीष्ट है तो उसके लिए आज ही से शाब्दिक प्रयत्न के बदले व्यवहारिक प्रयत्न करना उचित है।

इस कार्य के लिए प्रथम उपाय यह है कि अगुआ लोग अपने अग्रेजी-विचारो को राष्ट्रभाषा मे सोचकर हिन्दी मे प्रगट करें। इससे उनके विचार

दुहराये पर और भी पक्के हो जाएँगे और अंग्रेजी शब्दजाल से निकल कर स्पष्टता का रूप धारण करेंगे । जो लोग यह समझते हैं कि 'हरक्यूलियन टास्क' की कल्पना देशी भाषा जानने वालो मे नही है वे उनके "भगीरथ प्रयत्न" का विचार करे और फिर उन्हे यह बात उन्ही की भाषा मे समझावे । इस उपाय से हमारे अगुआ लोगो के व्याख्यान पर दस हजार के बदले एक लाख तालियाँ बजेगी ।

दूसरा उपाय यह है कि सुधारक लोग हिन्दी के समाचार पत्रो के विषय मे अपना यह हठ धर्म छोड दे कि उनमे पढने के योग्य कोई बात नही रहती । कभी-कभी उनमे उन्हे वही दुख कहानी मिल जायेगी जिसका चित्र वे अपने व्याख्यानो मे अटकल के सहारे खीचते हैं ।

फिर तीसरा उपाय उन्हे स्वय अंग्रेजो से सीखना चाहिये, जो दूसरे देशो की बाते अपनी भाषा मे लिखते है और हमारे सुधारक लोग अपने ही देश की बातें विदेशी भाषा मे लिखकर गौरव प्राप्त करने की इच्छा करते हैं ।

अंग्रेजी का अनावश्यक प्रचार इतना बढ गया है कि हिन्दी-भाषी पुत्र अपने हिन्दी-भाषी पिता को हिन्दी-घर की बाते अंग्रेजी मे लिखता है और पिता को अपने पुत्र की अंग्रेजी योग्यता का पूरा प्रमाण मिल जाने पर भी उसकी अंग्रेजी से आनन्द प्राप्त होता है ।

चौथा उपाय यह है कि भारत हितैषी सज्जन अपना मत प्रजा के हितार्थ हिन्दी समाचार-पत्रो मे और हिन्दी भाषा मे प्रकाशित करने का प्रण करें ।

पाँचवाँ उपाय ऐसे महाशय कर सकते हैं कि जो अपनी मातृभाषा के उपयोगी लेखो और ग्रथो का अनुवाद हिन्दी मे करने की कृपा करे । ऐसा करने से उन्हे हिन्दी लिखने का अच्छा अभ्यास होगा, उनकी मातृभाषा की बडाई होगी, राष्ट्रभाषा का भाण्डार बढेगा और स्वय उनको अर्थ लाभ होगा । इस प्रकार की सहायता कई एक हिन्दी प्रेमी महाशयो ने की है और कर रहे हैं ।

छठा उपाय यह हो सकता है कि लोकहित सम्बन्धी जितनी प्रार्थनाएँ और रिपोर्ट हैं वे भारत सरकार तथा प्रजा के पास हिन्दी मे छाप कर भेजी जावे ।

सातवाँ उपाय धर्म संस्थाओं का कर्त्तव्य है। इस विषय में आर्य समाज अपना कर्त्तव्य पालन कर रही है। यथार्थ में हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिये जो उद्योग उसने अकेले किया है वह और कई संस्थाओं ने मिल कर भी नहीं किया। इसका अनुकरण (मतभेद रहते हुए भी) सनातन धर्म सभायें करने लगें तो वे कार्य सिद्धि में बड़ी सहायक हों। तीर्थ स्थानों पर जहाँ देश-देश के यात्री एकत्र होते हैं, व्याख्याताओं और व्याख्यानों का नियमित प्रबंध करने में जितना लाभ हो सकता है उतना समाचार पत्रों में इस बात की समालोचना से नहीं हो सका कि अन्य भाषा-भाषी हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने में क्या सहायता दे सकते हैं।

आठवाँ उपाय देश के बड़े-बड़े व्यापारी कर सकते हैं, जिनका व्यापार सम्पूर्ण भारतवर्ष में है। हिन्दी में पत्र-व्यवहार करने और हिसाब रखने से स्वयं इन लोगों को सुभीता है और इनके ग्राहकों को भी है, जिनमें हिन्दी जानने वाले और समझने वालों की संख्या अधिक है। अपने सूचीपत्र आदि हिन्दी में प्रकाशित कराके ये लोग राष्ट्रभाषा की सहायता कर सकते हैं और साथ ही साथ अपना आर्थिक लाभ भी कर सकते हैं।

ऊपर जो उपाय संक्षेप में बताये गये हैं, वे ऐसे नहीं हैं कि उनमें किसी प्रान्तीय भाषा को हानि पहुँचे अथवा किसी को कोई विशेष कठिनाई पड़े। देश सुधार का जो कार्यक्रम अभी चल रहा है उसी में थोड़ा हेर-फेर करने से एक महत्वपूर्ण और सर्वोपयोगी कार्य का आरम्भ सहज ही हो सकता है।

जिन वक्ताओं अथवा नेताओं की मातृभाषा हिन्दी नहीं है, उन्हें इस विषय में थोड़े समय तक अड़चन पड़ेगी, पर यदि वे अपने प्रिय विषयों में से एक विषय पर भी टूटी-फूटी हिन्दी में अपने विचार प्रकट करेंगे और टूटी-फूटी हिन्दी वे लोग सहज ही बोल सकते हैं तो उनके प्रयत्न से जो लाभ होगा वह उनके अंग्रेजी व्याख्यानों की अपेक्षा अधिक व्यापक होगा। इस विषय में उन्हें साहित्य-सम्राट सर रवीन्द्रनाथ ठाकुर का उदाहरण ग्रहण करना चाहिये, जो विशेष रूप में हिन्दी न जानते हुए भी हिन्दी में पत्र लिखने और सम्भाषण करने में आनन्द मानते हैं।

इस विषय में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दो मुख्य कर्त्तव्य हैं। एक तो उसे भिन्न-भिन्न देशी भाषाओं के साहित्य सम्मेलनों में अपने प्रतिनिधि भेजने

का प्रबंध करना चाहिये जो वहाँ जाकर साहित्य विषयों पर व्याख्यान दें। दूसरे उसे अपनी परीक्षाओं में ऐसे परीक्षार्थियों को भी लेने का विशेष प्रयत्न करना चाहिये, जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है। इसके सिवा साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन उन स्थानों में करने की आवश्यकता है, जहाँ हिन्दी नहीं बोली जाती।

इन सब उपायों में हम वही काम करेंगे जिसकी आज्ञा हमें हिन्दी नायक भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी अपने दूरदर्शी वचनों में, तीस वर्ष पहले दे गए हैं —

"प्रचलित करहु जहान में निज, भाषा करि यत्न ।
राज काज दरबार में, फैलावहु यह रत्न ॥"

|■|

हिन्दी ने राष्ट्रभाषा का अपना यह स्थान उन संत महात्माओं, विद्वानों, कलाकारों, शस्त्र जीवियों, व्यापारियों आदि के माध्यम से शताब्दियों पहले प्राप्त कर लिया था, जिन्होंने भौगोलिक सीमाओं की उपेक्षा कर देश की आध्यात्मिक और भौतिक सम्पन्नता को व्यापक स्वरूप प्रदान किया था।

कोई भी भाषा विविध रूपा होती है। इस कारण प्रत्येक भाषा के मानक या परिनिष्ठित स्वरूप के निर्धारण की परम आवश्यकता होती है। जिससे प्रकाश स्तम्भ के रूप में भाषा सीखने वालों एवं उसके प्रयोग करने वालों का मार्ग दर्शन हो सके।

हिन्दी के इतिहास में पंडित कामताप्रसाद गुरु का नाम एवं कार्य चिरस्मरणीय रहेगा।

—पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र

आत्म-त्याग

[नैतिक गुण व्यक्ति एवं समष्टि के लिए कल्याणकारी हैं। 'आत्म-त्याग' देश और संसार की जटिल समस्याओं के हल करने में किस प्रकार समर्थ है यह गुरुजी की दृष्टि से देखें।]

या जग में तिन्हे धन्य गनौ,
जे सुभाय पराये भले कहँ दौरे।
आपुन हूँ सो भलो करै, ताको
सदा गुन मानै रहै, सब ठौरे॥
"दासजू" ह्वै जो सकै तो करै,
बदले उपकार के आपु करौरे॥
काज हितू के लगैं, तन-प्रान के
दान ते नेकु नहीं मुख मोरे॥

दास।

आत्म-त्याग देशोद्धार का सबसे महत्त्व-पूर्ण साधन है। इस शब्द का साधारण (प्रचलित) अर्थ परोपकार है और यह आत्मोत्सर्ग का पर्यायी है। मनुष्य में अन्य गुणों के साथ इसके अस्तित्व से "सोने में सुहागा"

की लोकोक्ति चरितार्थ होती है। आत्म-त्याग सदाचार और धर्म का एक प्रधान अङ्ग हैं, और इसके हृदय की उच्चतम महानुभावता प्रकट होती है। स्थूल दृष्टि से दूसरो के हित के लिए अपने सुख को छोडना ही आत्म-त्याग है। इस गुण मे साधारण दान और कष्ट-सहन मे लेकर सर्वस्व-त्याग और आत्म-बलिदान तक का समावेश होता है। आत्म-त्याग को सनातन धर्म का नत्वांश समझना चाहिए।

हमारे इतिहास और धर्म के ग्रन्थो मे आत्म-त्याग के महत्वावधि उदाहरण उपलब्ध हैं। मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी ने पिता की इच्छा पूर्ण करने के लिए अयोध्या का राज्य तृणवत् त्याग दिया। महाराज शिवि ने एक शरणागत पक्षी की रक्षा के लिए अपने शरीर का मास अर्पण कर दिया। महारानी कुन्ती ने एक ब्राह्मण-कुमार की प्राण-रक्षा के निमित्त अपने पुत्र, भीम को एक राक्षस के निकट भेज दिया। राजा रतिदेव ने अड़तालीस दिन के उपोषण के उपरान्त भी अपना भोजन अतिथियो को दे डाला, और आप निराहार रह गये। दधीचि ऋषि ने देवताओ को राक्षसो से अपनी रक्षा करने के निमित्त अपने शरीर की हड्डियाँ दे दी, जिसके कारण उन्हे प्राण छोडना पडे। महात्मा बुद्ध ने धर्म प्रचार करने के लिए राजपाट और गृह-परिवार को त्याग दिया, और पशु-हिसा रोकने के हेतु अपने को बलिदान कराने के लिए तत्पर हो गये। पन्नादाई ने राजकुमार उदयसिह के प्राण बचाने के निमित्त अपने नेत्रो के सम्मुख अपने प्यारे पुत्र का वध करवा दिया। महाराणा प्रताप ने भारत की स्वतन्त्रता के लिए जन्म-भर जङ्गलो मे रहकर नाना प्रकार के कष्ट सहे। वर्तमान काल मे महात्मा गाधी और महामना मालवीयजी ने आत्म-त्याग करके अनेक कष्ट सहे हैं, और मनसा-वाचा-कर्मणा भारत की स्वतन्त्रता की रक्षा के निमित्त अब भी अविरत परिश्रम और प्रयत्न करते रहे हैं। इस प्रकार के और भी अनेक उदाहरण हैं।

आत्म-त्याग की बुद्धि बहुधा अपनी वा दूसरो की विपत्ति से प्रेरित होती है। यथार्थ मे विपत्ति ही मनुष्य के गुणो का प्रकाश करती है, सम्पत्ति तो उन्हे छिपा देती है। विपत्ति पडने पर मनुष्य मे साहस, स्वावलम्बन, सहन-शीलता, आत्म-गौरव, आदि गुण उत्पन्न होते है। जब दूसरो को हानि पहुँचाकर भी लोगो के स्वार्थ मे हानि पहुँचती है, तब

उनको बोध होता है कि केवल एक मनुष्य के स्वार्थ मे जाति भर का हित नही हो सकता, प्रत्युत कुछ लोगो की हानि से जाति-भर को अवश्य हानि उठानी पडती है। उदाहरणार्थ, समाज के दो-चार लोगो की योग्यता सिद्ध होने पर शेष व्यक्तियो की योग्यता कठिनाई से सिद्ध होती है, पर दो-चार लोगो की अयोग्यता से बहुधा समाज-का-समाज कलङ्कित हो जाता है। इस प्रकार की विपत्ति भोगकर लोग सचेत हो जाते है और अपने उत्कर्ष के साथ अपने साथियो के उत्कर्ष का भी उपाय सोचने लगते हैं।

लोगो के आत्म-त्याग मे देश का और अन्त मे ससार का कल्याण होता है। यदि हमारे ऋषि-मुनि प्राणो का मोह छोडकर पदार्थों के गुण-दोषो की जाँच न करते, तो हम कैसे जानते कि अमुक पदार्थ अमृत और अमुक विष है। विषो की जाँच करते समय कितने लोगो ने अपने प्रिय प्राण न खोये होगे! यदि वे यह विचार लेते कि हम इन बातो की खोज मे अपने प्राण क्यो गँवावें, तो आज हमे वह स्वास्थ्य-सुख कैसे प्राप्त होता, जिसके मद मे मत्त होकर हम अपने पूर्वजो के उपकारों को भूल रहे हैं। यदि गुसाई तुलसीदास राम-भक्ति के हेतु सर्वस्व त्यागकर "रामचरित-मानस" न लिखते, तो हिन्दुस्थानियो को विदेशी राज्य और धर्म-प्रचार के प्रचार के प्रभाव मे धर्म-ज्ञान तो क्या, भाषा-ज्ञान भी न हो सकता। अपने वचनात्मक उपदेशो मे भी उन्होने हम लोगो को यही सिखाया है कि

> पर-हित लागि तजइ जो देही।
> सन्तत सन्त प्रशसहि तेही॥

सिक्खो मे आज भी जो संगठन, वीरता और उत्साह पाया जाता है, वह सब उनके गुरु, गोविन्दसिंह और उनके बेटो के आत्म-बलिदान का सुखद परिणाम है। रानी दुर्गावती ने यवनो के हाथ से अपने सतीत्व की रक्षा के लिए वीरोचित साधन से जो आत्म-बलिदान किया, वह आज भी हमारी कुल-कामिनियो को विषम परिस्थिति मे साहस देता है।

संसार मे इतने अभाव, इतनी आवश्यकताएँ और इतने सकट है कि यदि आधा ससार दूसरे आधे की सहायता करने मे दिन-रात लगा रहे, तो भी पूरा न पडे। फिर भारतवर्ष मे इनकी इतनी अधिकता है कि

जीवन यद्यपि मिले कई जीवन पर पूरे,
तो भी मम कर्त्तव्य-हेतु हैं सभी अधूरे।

यदि एक शिक्षा का ही विषय उद्देश्य मान लिया जाय, तो उन तीस करोड लोगो की शिक्षा के निमित्त, जिनको सरकारी शिक्षा का सौभाग्य प्राप्त नही होता, कम-से-कम तीस लाख शिक्षको को तैयार करने के लिए कम-से-कम उतना ही रुपया चाहिए जितनी इस देश की अशिक्षित मनुष्य-संख्या है। यह एक मोटा हिसाब है जिससे केवल एक ही सुधार के लिए कार्यकर्त्ताओ और धन की आवश्यकता के परिणाम का पता लग सकता है। हमारे देश मे सुधारो की संख्या सैकडो तक पहुँच सकती है और इनके लिये जब तक हजारो की संख्या मे आत्म-त्यागी कार्यकर्ता न मिलेंगे, तब तक देश का पूरा सुधार और उद्धार होना कठिन है।

भारतवर्ष मे सबसे कठिन समस्या किसानो की दुर्दशा और ग्रामीणो की असहायता की है। इनके पास न धन है और न अशिक्षा के कारण बुद्धि है। ये जो कुछ अनाज उपजाते है उसका आधे से अधिक भाग ऋण और बीज मे चला जाता है। ये बहुधा निकृष्ट अनाजो से अपना पेट पालते हैं, और कभी-कभी आधे-पेट ही रह जाते हैं। इतने पर भी इनके ऊपर माल-गुजारो और सरकारी अफसरो के अत्याचार होते हैं। इनकी दवा-दारू का कोई सन्तोष-दायक प्रबन्ध नही है और ये जाडे तथा बरसात मे अपने शरीर और स्वास्थ्य की पूरी रक्षा नही कर सकते। शहरवाले गाँववालों का तिरस्कार करते है, पर वे इस बात को भूल जाते है कि ये ही अन्न उत्पन्न कर परोक्ष रूप से उनका पेट पालते हैं। ग्रामीण स्त्रियो की और भी दुर्दशा है। वे गृहस्थी का भार उठाती, बाल-बच्चो का भला-बुरा पालन-पोषण करतीं, पानी भरतीं, कण्डे पाथती, बासन माँजती, घास काटती और पुरुषों के कृषि-कार्य मे योग देती है। इतने पर भी आप आधे-पेट रहकर घरवालो को पूरा भोजन कराने की योजना करती है। इन सबकी दशा सुधारने और आवश्यक सहायता करने के लिए ऐसे अनेक स्वयसेवको और आत्म-त्यागियो की आवश्यकता है, जो गाँव-गाँव जाकर वहाँ के सकटो का अध्ययन करे, और उन्हे दूर करने के उपाय काम मे लावें।

हमारे देश मे दूसरी कठिन समस्या स्त्रियो और बालिकाओ की

रक्षा है। भारतवर्ष की स्त्रियाँ अनादि काल से अपने सतीत्व के लिए प्रसिद्ध रही हैं। मुसलमानी शासन-काल मे राजपूतनियो ने अग्नि मे जीते-जी जलकर जौहर-व्रत करके अपने पातिव्रत्य की रक्षा की है। हमारी उन्ही देवियो की प्रतिष्ठा आज गुडो, बदमाशो, लुच्चो, लफगो और विधर्मियो के अत्याचार की क्रीडा हो रही है। वर्तमान राजनीतिक परिस्थिति से इन दुष्टो का सगठन और बल अधिक बढ गया है। किसी-किसी प्रान्त मे तो स्त्रियो और बालिकाओ को बेचने का व्यापार होता है, और बहुधा अदालतो मे उनके भगाये जाने तथा उन पर बलात्कार किये जाने के अपराध उपस्थित किये जाते हैं। समाज की निर्बलता और दयनीयता से इस उद्दडता को उत्तेजन मिलता है। प्राचीन विदेशी राजत्व मे जो क्षत्रिय अबला स्त्रियो और कुमारियो की राखी ग्रहण कर प्राण-पण से उनकी रक्षा का प्रण करते थे, वे बहुधा स्वय आज बसे हुए घरो को उजाड रहे हैं। ऐसी दशा मे स्त्री-जाति का उद्धार करना वीर कहलाने वाले पुरुषो के आत्म-बलिदान का प्रधान विषय होना चाहिए, जिसमे अबलाएँ यह न कह सकें कि "तुमहि अछत अस दशा हमारी।"

तीसरी कठिन समस्या, अनाथ स्त्रियो और बच्चो के पालन-पोषण की है। इस कठिनाई का निवारण आत्म-त्यागी धनिको के धन-त्याग से हो सकता है, पर साथ ही इसके लिए ऐसे स्वार्थ-त्यागी सज्जनो की भी आवश्यकता है, जो वनिताश्रमो और अनाथालयो का प्रबन्ध सच्चाई के साथ करें और उनमे रहने वालो को सदाचार की शिक्षा देवे। अनाथो का उचित पालन-पोषण न होने से वे बहुधा दूसरे धर्म मे अथवा कुमार्ग मे चले जाते हैं, जिससे उनकी जाति वा सम्प्रदाय और कुल कलकित होते हैं और इस प्रकार देश के नैतिक आदर्श का पतन होता है। इसी प्रकार परोपकारिणी सस्थाएँ उन शिशुओ के लिए भी खोली जानी चाहिए, जिन्हे उनके माता-पिता अपना पाप छिपाने के लिए जन्मते-ही छोड देते हैं। जो सज्जन अपना धन इन सस्थाओ को देंगे वे देश को भ्रूण-हत्या और बाल-हत्या के घोरतम पाप मे बचाएँगे और अपने लिए जीव-दान का अक्षय पुण्य सचित करेंगे।

देश की चौथी कठिन समस्या आजकल शिक्षितो की बेकारी है। इसको दूर करना सरकार का प्रधान कर्त्तव्य है, और वह कम-से-कम इतना

तो अवश्य कर सकती है कि पुराने नौकर निरी राज-भक्ति वा धन की कल्पित आवश्यकता के कारण फिर से नौकर न रखे जायँ। इससे दूसरे योग्य लोगो को नौकरी मिल सकेगी और उन्हे अपनी योग्यता प्रदर्शित करने का अवसर भी प्राप्त होगा। इसी तरह वकीलो, मुख्तारो और बैरिस्टरो को साठ वर्ष की अवस्था के उपरान्त और न्यायाधीशो को अवसर ग्रहण करने के पश्चात् वकालत करने की आज्ञा न दी जाय, जिसमे नये प्रवेशको को कार्य करने का कुछ क्षेत्र खाली मिल जाय। यथार्थ मे इन सबको स्वय ही आत्म-त्याग करना उचित है, पर बहुधा देखा यह जाता है कि अनेक लोग धनाभाव मे तो नही, किन्तु धनोन्माद से प्रेरित होकर जर्जरावस्था मे भी औरो के अधिकार अपहृत करते रहते हैं।

एक और समस्या यात्रियो के कष्टो से सम्बन्ध रखती है। भोले-भोले, भावुक और श्रद्धालु यात्री बहुधा अनेक प्रकार के गुडो, दुष्टो और धूर्तों के लक्ष्य बनते हैं। रेलगाडियो मे लोग वे भेड-बकरियो की तरह भरे जाते हैं, और उनकी पुकार सुनने वाले बहुत कम मिलते हैं। स्टेशनो पर खाने-पीने की जो सामग्री मिलती है, वह बहुधा विकारी रहती है, और कही-कही तो इसका पूर्णाभाव रहता है। मुसाफिरखाने और निस्तार के स्थान तो प्राय अस्वच्छ ही पाये जाते हैं। यात्रियो के अचानक बीमार पड जाने पर, उनकी चिकित्सा का कही प्रबन्ध नही रहता। तीर्थों पर पण्डे लोग जिस उत्साह से अर्थाकर्षण करते हैं, उस उत्साह से यात्रियो के कष्टाकर्षण की व्यवस्था नही करते। कभी-कभी तो ये लोग धर्म के नाम पर उनका सर्वस्व हरण कर लेते हैं। इन सब कठिनाइयो को दूर करने के प्रबन्ध के लिए अनेक स्वयसेवको, आत्म-त्यागियो और उदार-चेता कार्यकर्त्ताओ की बडी आवश्यकता है।

ऊपर के उदाहरण सुधारो की सख्या की सूची समाप्त नही करते। कर्त्तव्य-परायण महानुभाव अपने देश-बन्धुओ की स्थिति पर विचार कर उसके सुधार के क्षेत्र और साधनो का अन्वेषण आप ही कर सकते हैं। कहा भी है कि 'जहाँ चाह है वहाँ राह है'।

अब प्रश्न यह है कि इन सब कामो के लिए हजारो आत्म-त्यागी कहाँ मिलेगे और वे अपना काम कैसे करेगे? यदि ध्यान से देखा जाय, तो हमारे देश मे आत्म-त्याग के लिए इतने व्यक्तियो का मिलना कोई कठिन बात नही

है। यहाँ केवल ऐसे साधुओ की सख्या लाखो पर पहुँचती है जिनके "न आगे नाथ है, न पीछे पगहा", और जो पडे-पड़े खाने और गाँजे-चरस को दम लगाने मे ही अपना अधिकाश समय व्यतीत करते है। ये लोग और इनमे विशेषकर शिक्षित लोग कम-से-कम पर्वों के अवसर पर यात्रियो की अनेक प्रकार से सहायता कर सकते हैं, पर इनमे वैसी कर्तव्य-बुद्धि नही पाई जाती। ये लोग दूसरो की सेवा करने के बदले बहुधा उनमे अपनी सेवा कराने मे विशेष चतुर होते हैं। जिन महन्तो के आश्रित होकर ये साधु रहते है, वे अधिकाश मे बडे-बडे मठो के अधीश्वर होते हैं, और राजाओ तथा प्रजा की ओर से लगाई गई बडी-बडी वृत्तियाँ खाते है। यदि वे लोग चाहे, तो अपने आश्रित चेलो को शिक्षा, दीक्षा और अभ्यास के द्वारा योग्य बनाकर जनता की सेवा मे लगा सकते है। हमारे अगृहस्थ ग्रेजुएट इन महन्तो के चेले बनकर इन्हे यथार्थ आत्म-त्याग सिखा सकते हैं और इनके द्वारा अनेक प्रकार से देश का उद्धार करा सकते हैं।

दूसरे आत्म-त्यागी वे बालक और बालिकाएँ हो सकती हैं (देश मे आत्म-त्यागिनी स्त्रियो की भी आवश्यकता है), जिनका पालन-पोपण अनाथालयो मे किया जाता है, और जिन्हे साधारण शिक्षा के अतिरिक्त कृतज्ञता और आत्म-त्याग की शिक्षा सरलता से दी जा सकती है। आवश्यक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त उन्हे प्रत्युपकार की दृष्टि से गृहस्थी और सम्पत्ति की लोलुपता का त्याग कर, केवल जीविका से सन्तुष्ट रहना उचित है, जिसका प्रबन्ध कोई भी धनी देश-भक्त कर सकता है, और अपने को देश की सेवा के लिए अर्पण कर देना चाहिए। जो लडके-लडकियाँ मानता के कारण देव-दास और देव-दासियाँ बना दिये जाते हैं, वे भी उचित शिक्षा के पश्चात् आत्म-त्यागी होकर देश की सेवा कर सकते है।

आत्म-त्यागियो की सख्या बढाने का एक ही उपाय यह है कि प्रत्येक कुटुम्ब, जिनमे सदस्यो की सख्या पर्याप्त से अधिक हो, अपने किसी स्वतन्त्र और उदार प्रकृति-वाले व्यक्ति को देश-हित के लिए अर्पण कर दे। अन्य देशो मे लोग बलात् सेना मे भरती किये जाते है, और युद्ध मे भेजे जाते हैं, जिसमे जीवन ही सदिग्ध रहता है, पर देश-हित के सुधारक कार्यों मे ऐसी आशङ्का के लिए बहुत कम स्थान है। बडे कुटुम्ब मे मे एक व्यक्ति

के देशार्पित हो जाने पर, और भीष्म पितामह के समान, उसके आजन्म ब्रह्मचारी रहने पर वंश-लोप का भी भय नहीं है, और न बहुधा इस बात का डर है कि वह कुसङ्गति में पड़कर कुल, समाज और राष्ट्र को कलंकित करेगा। रही प्राण-भय की बात, सो घर में रहने पर भी प्राण-भय बना रहता है, और सच्चा देश-भक्त तो सदैव यह विचार करता है कि

प्राण क्या हैं देश के हित के लिए,
देश खोकर जो जिए तो क्या जिए !

अन्त में यह बताना आवश्यक है कि प्रत्येक आत्म-त्यागी को एक ही काम में, जिसके लिए वह अपने को योग्य समझता हो, हाथ डालना चाहिए और राना हमीर के समान, आमरण अपने प्रण पर अटल रहना चाहिए। उन एक के निधन के अनन्तर दूसरे आत्म-त्यागी को उसका स्थान, बिना आगा-पीछा किये, तुरन्त ग्रहण कर लेना चाहिए और आत्म-त्याग की परम्परा को सदा जीती-जागती रखना चाहिए।

|■|

'देशोद्धार और देश सेवा का अन्योन्य सम्बन्ध है। क्या शिक्षा प्रचार, क्या सामाजिक सुधार, क्या कृषिकला, क्या वाणिज्य सभी कार्य देशोद्धार के लिये आवश्यक हैं। अत सच्चा देशभक्त एवं देश सेवक वही है जो देशोन्नति सम्बन्धी अनेक कार्यों में कम से कम एक कार्य को मनसा-वाचा-कर्मणा पूर्ण करता है।'. .

—कामताप्रसाद गुरु

बातचीत में शिष्टाचार

[इस लेख मे गुरुजी ने बातचीत सम्बन्धी शिष्टाचार का महत्त्व दिखाते हुए सहज भाषा मे कार्लमयी मार्गदर्शन दिया है ।]

मनुष्य की विद्या, बुद्धि और स्वभाव का पता उसकी बातचीत से लग जाता है । जिसकी बातचीत मे सभ्यता और शिष्टाचार का अभाव रहता है, उससे भले मनुष्य बातचीत करना पसन्द नही करते ।

बातचीत करते समय श्रोता की मर्यादा के अनुसार 'तुम', 'आप' अथवा 'श्रीमान्' का उपयोग करना चाहिए । इनमे 'आप' शब्द इतना व्यापक है कि वह 'तुम' और 'श्रीमान्' का भी स्थान ग्रहण कर सकता है । 'तुम' का उपयोग साधारण मनुष्यो के लिए या अधिक जान-पहचान वाले समवयस्को के लिए है । 'श्रीमान्' का उपयोग अत्यन्त प्रतिष्ठित मनुष्यो के लिए करना चाहिए । बहुत ही छोटे लडको को छोडकर और किसी के लिए 'तू' का उपयोग करना उचित नही । यहाँ तक कि घर के नौकर भी, उनसे 'तू' कहकर किसी काम के लिए कहा जाय तो अपना अपमान समझते है । किसी के प्रश्न का उत्तर देने मे 'हाँ' या 'नही' के लिये सिर्फ अपना सिर हिला देना असभ्यता जङ्गलीपन है ।

उसके बदले 'जी हाँ' या 'जी नहीं' कहने की बड़ी आवश्यकता है। बातचीत इस तरह रुक-रुककर न की जाय कि जिससे सुनने वाले का मन उचट जाय। सम्भाषण करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बोलने वाला बहुत देर तक अपनी ही बात न सुनाता रहे, जिससे दूसरों को बोलने का मौका न मिले और वे बोलने वाले की बक-बक से ऊब जायँ।

बातचीत में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि किसी के जी को दुखाने वाली कोई बात कभी न कही जाय। वार्तालाप को जहाँ तक हो सके कटाक्ष, उपालम्भ और अश्लीलता से दूर रखना चाहिए। अविकार के अभिमान में किसी के लिए कठोर शब्द का प्रयोग करना अपने को असभ्य साबित करना है। किसी नये व्यक्ति के साथ जान-पहचान करने के लिए बातचीत में हद से ज्यादा उत्सुकता न प्रकट की जाय और जब तक बड़ी आवश्यकता न हो किसी की जाति, वेतन, उम्र, वेश, पेशा, धर्म आदि न पूछना चाहिए। कुछ पूछते समय प्रश्नों की झड़ी लगाना ठीक नहीं। अगर कोई आदमी आपका प्रश्न सुनकर भी उत्तर न दे तो उसके लिए उससे अधिक आग्रह न करना चाहिए। यदि ऐसा जान पड़े कि वह व्यक्ति उत्तर देना भूल गया है तो अवश्य नम्रतापूर्वक दूसरी बार उससे प्रश्न किया जा सकता है।

बातचीत में आत्म-प्रशंसा को, जहाँ तक हो सके, बहुत दूर रखना चाहिए। साथ ही बातचीत का ढंग भी ऐसा न हो कि सुनने वाले को उसमें अपने अपमान की झलक दिखाई दे। बातचीत में विनोद बहुत ही आनन्द लाता है, परन्तु हमेशा हँसी-ठट्ठा करने की आदत वक्ता और श्रोता दोनों के लिए हानिकारक है।

यदि कहीं दो-चार सज्जन इकट्ठे होकर किसी विषय पर एकान्त में बातचीत कर रहे हों तो अचानक बिना सूचना दिये उनके बीच में जाना अथवा उनकी बातें सुनना अशिष्टता है। ऐसे अवसर पर लोगों के पास जाकर बिना कुछ पूछे ही बातचीत करने लगना अनुचित है।

बेमतलब किसी की 'हाँ में हाँ मिलाना' चापलूसी है और न्याय-संगत बातें सुनकर उनका खण्डन करना दुराग्रह है। बातचीत करते समय इन दोषों से बचना चाहिए। वार्तालाप करते समय दूसरे के उत्तम विचारों का समर्थन करने में या उसकी प्रशंसा में दो-चार शब्द कहने में कभी न चूकना चाहिए,

यह चापलूसी नही। किसी अनुपस्थित सज्जन की अकारण निन्दा करना शिष्टता के विरुद्ध है, क्योकि पर-निन्दक को सभ्य-समाज मे अनादर की दृष्टि से देखा जाता है।

शिक्षितो के समाज मे मत-भेद होने के अनेक कारण उपस्थित होते हैं। इसलिए जब किसी के मत का खडन करने का मौका आवे तब मनुष्य बहुत ही नम्रतापूर्वक और क्षमा प्रार्थना करके उस मत का खडन करे, और खडन भी ऐसी चतुराई से किया जाय कि विरुद्ध मतवाले को बुरा न लगे। बातचीत मे क्रोध को रोकना चाहिए और यदि यह न हो सके तो उस समय मौन धारण ही उचित है। राह मे जाते हुए किसी स्त्री से, विशेष कर दूसरे घर की स्त्री से, बातचीत करना अशिष्टता का लक्षण समझा जाता है। यदि कोई व्यक्ति किसी आवश्यक कार्य मे लगा हो या कुछ गम्भीरता के साथ अपने विचारो मे डूबा हुआ हो तो उसके पास ही जोर-जोर से बातें न करना चाहिए। रोगी मनुष्य से अधिक समय तक बातचीत करना हानिकारक है।

यदि अपने किसी अनुपस्थित मित्र, आदरणीय व्यक्ति या सम्बन्धी की निन्दा की जा रही हो तो निन्दा करने वाले को नम्रतापूर्वक समझा देना चाहिए कि वह ऐसा अशिष्ट कार्य न करे और यदि इतने पर भी अपनी बात का कोई प्रभाव उस निन्दक पर न पडे तो किसी बहाने उसके पास मे उठकर चला जाना उचित है।

किसी सभा-समाज मे या आम जगह मे, जहाँ लोग उपस्थित हो, अपने मित्र या परिचित व्यक्ति से ऐसी भाषा का अथवा ऐसे शब्दो का उपयोग न करना चाहिए, जिन्हें दूसरे न समझ सके अथवा जो उन्हे विचित्र जान पड़ें।

बातचीत करते समय भाषा पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। कुछ लोग मामूली पढे-लिखे लोगो के साथ भी बातचीत करते समय ऐसे शब्दो का उपयोग करते हैं, जो साधारण पढे-लिखे लोगो की समझ मे नही आ सके। इसी प्रकार शिक्षित समाज मे मनुष्य के लिए 'मानुस', माता के लिए 'महतारी' पिता के लिए 'बाप' और भोजन के लिए 'खाना' कहना असगत है।

अपनी मातृभाषा मे बातचीत करते समय बीच-बीच मे अँगरेजी शब्दो को मिलाकर एक तरह की खिचडी-भाषा बोलने की जो बुरी प्रथा शिक्षित लोगो मे चल पडी है उसको तो रोक ही देना चाहिए। भारतवर्ष के सभी

प्रात इस 'खिचड़ी सभापण प्रथा' के प्रवाह मे बुरी तरह बहे जा रहे हैं, यह ठीक नहीं है।

हिन्दी बोलने वालों के साथ बातचीत करते समय उर्दू या अरबी-फारसी के कठिन शब्दों और मुहावरों का इस्तेमाल करना ठीक नही समझा जा सकता। हाँ, मुसलमान लोग संस्कृत के शब्द कम समझते हैं, इसलिए उनके साथ बातचीत मे संस्कृत के बड़े-बड़े शब्दों का प्रयोग न करके प्रचलित सहल उर्दू-फारसी के शब्दों का इस्तेमाल करना जरूरी है जिससे वे हमारी बात अच्छी तरह समझ सकें।

■

गुरुजी मे अपने अच्छे विचारों के प्रकटीकरण मे उज्ज्वल निर्भीकता रही है। उन्होंने भाषा के उस समस्त पर, जो गद्य और पद्य के क्षेत्र में पनपा है, अपनी सहमति या स्वीकृति की मुहर नहीं लगाई। क्योंकि विचारों के वाहन अथवा आवाहन के रूप मे भाषा की विशुद्धता की गुरुजी अवहेलना नहीं देख सकते। गुरुजी महाराज ने पिछले तीन युगों को अपने सामने पनपता, फूलता और फलता देखा है।

माखनलाल चतुर्वेदी

व्याकरण का प्रयोजन

[चवालीस वर्ष पूर्व आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के सम्मान-अभिनन्दन हेतु साहित्यिकों द्वारा प्रयाग मे द्विवेदी मेला आयोजित किया गया था। इस अभूतपूर्व साहित्यिक समारोह मे द्विवेदी-युगीन सरस्वती-साधक तथा परवर्ती कवि और लेखक सम्मिलित हुए थे। इस मेले मे पं० कामता प्रसाद गुरु ने यह लेख पढा था। इसमे जीवन की समस्त व्याकरण-साधना की मूलभूत प्रेरणा और उपलब्धि का विवेचन किया गया है।]

इस निबन्ध का मुख्य उद्देश्य यह है कि कुछ लोगो ने व्याकरण का विरोध करके उसके सम्बन्ध मे जो भ्रम फैलाया है, वह दूर हो जाय, और लोग व्याकरण के पठन-पाठन से उदासीन न हो।

व्याकरण एक विचारात्मक विषय है, और उसका सम्बन्ध सार्थक शब्दो तथा वाक्यो से है। व्याकरण का अध्ययन शब्दो के रूपो और उनके परस्पर सम्बन्धो का अध्ययन है। ऐसी दशा मे सम्भव है कि किसी-किसी को यह विषय कठिन जान पडे, पर आश्चर्य और परिताप का विषय तो यह है कि जो विद्वान प्राचीन और विदेशी भाषाओ मे पारगत हैं, वे भी अपनी मातृभाषा के व्याकरण को अवहेलना की दृष्टि से देखते हैं, और सबसे बडा चमत्कार तो यह है कि इसी श्रेणी के लोग अपनी मातृभाषा के व्याकरण को अनावश्यक और उसके वैयाकरण को भाषा का शत्रु समझते हैं।

प्रत्येक भाषा में व्याकरण अन्तर्हित रहता है, चाहे कोई उसकी खोज करे या न करे। अभी भी कई एक ऐसी जंगली भाषाएँ हैं, जिनके व्याकरणों की खोज विद्वान लोग नहीं कर सके हैं; पर इसका यह अर्थ नहीं है कि उनमें व्याकरण के नियम नहीं हैं, अथवा कोई भाषा व्याकरण के नियमों के बिना बोली जाती है। वैयाकरण अपने मन से किसी व्याकरण की सृष्टि नहीं करता है, प्रत्युत किसी एक भाषा की रचना का अध्ययनकर उसकी रचना तथा व्युत्पत्ति आदि के नियम खोजकर निकालता है।

सभ्य जातियों में कदाचित् ऐसी कोई भाषा न मिलेगी, जिसका व्याकरण न लिखा गया हो, और जिसके व्याकरण का अध्ययन कम से कम दस-बीस विद्वानों ने न किया हो। जब कभी किसी भाषा में शुद्धाशुद्ध का विषय उपस्थित होता है, तब उसका निर्णय अन्त में व्याकरण ही करता है। ऐसी भाषा कदाचित् कोई न होगी, जो सदैव व्याकरण के विरुद्ध चले, अथवा व्याकरण के नियमों का उल्लंघन करे। यदि कोई विरोध होता भी है, तो व्याकरण उसे मिटा देता है, या उसकी नियमपूर्वक शुद्धि कर उसे अपवाद-रूपी जाति में मिला देता है।

प्रत्येक विद्या, शास्त्र अथवा विज्ञान के, दो स्वरूप होते हैं—(१) व्यावहारिक, (२) सैद्धान्तिक। किसी-किसी को केवल पहले प्रकार का, किसी-किसी को केवल दूसरे प्रकार का और किसी-किसी को दोनों प्रकार का ज्ञान होता है। अब यह बात निर्विवाद है कि जिसे किसी विद्या का दोनों प्रकार का ज्ञान प्राप्त होगा वही उस विद्या का पूर्ण विद्वान् माना जायेगा। जो वैद्य अनुभव से औषधि देता है, और शरीर-रचना का कुछ भी ज्ञान नहीं रखता, क्या वह कभी अपनी भयंकर भूल का यथार्थ कारण समझ सकता है? तथापि यह सर्वदा सम्भव नहीं है कि व्यावहारिक ज्ञान से आप-ही-आप सैद्धान्तिक ज्ञान अथवा सैद्धान्तिक ज्ञान से व्यावहारिक ज्ञान उत्पन्न हो सके। दोनों की दिशाएँ अलग-अलग हैं, परन्तु उनमें अन्योन्य सम्बन्ध है।

व्याकरण के ज्ञान से अच्छा लेखक या वक्ता और भी अच्छा हो सकता है, और अपने विचार अधिक शुद्धता तथा स्पष्टता से प्रकट कर सकता है। उसके विचारों में अर्थ का अनर्थ नहीं होने पाता। शब्दों और वाक्यों का ठीक ज्ञान होने के कारण वह अज्ञानतान्धकार में नहीं भटकता और अपने विचारों

का समर्थन साहसपूर्वक और कारण सहित कर सकता है। प्रतिद्वन्द्वी लोग उसके वचनों को खीच-तानकर अन्यार्थ-बोधक नही बना सकते। जटिल भाषा अथवा जटिल विचार समझने मे जब सब उपाय थकित हो जाते है, तब व्याकरण ही अन्वय के द्वारा अर्थ समझाने मे सफल होता है। व्याकरण का महत्व इसी एक बात से सिद्ध है कि यह वेदागो मे प्रधान माना गया है।

हमारे पूर्वजो ने व्याकरण की उपयोगिता पर गम्भीर विचार किया है। "पराशरोप-पुराण" मे व्याकरण की चर्चा के समय कहा गया है

"पाणिनीय महाशास्त्र, पद-साधुत्व लक्षणम्।
सर्वोपकारक ग्राह्य कृत्स्न, त्याज्य न किचन।"

"पद-मजरी" मे लिखा है

"रूपान्तरेण ते देवा विचरन्ति महीतले।
ये व्याकरण–सस्कार–पवित्रित-मुखा नरा।"

वाल्मीकि-रामायण मे हनुमान के सम्भाषण मे प्रसन्न होकर राम कहते है

"नून व्याकरण कृत्स्न अनेन बहुधा श्रुतम्।
बहु व्याहरतानेन न किचिद् अपशब्दितम्।"

एक पुस्तक मे लिखा गया है

"यद्यपि बहुनाधीपे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजन श्वजनो माभूत् सकल शकल सकृच्छकृत्।"

महर्षि पतजलि ने अपने महाभाष्य मे व्याकरण के पाँच प्रयोजन बताये है

"रक्षोहागम लघ्वसदेहा प्रयोजनम्।"

(१) रक्षा शब्द और अर्थ की स्थिरता है। उदाहरण के लिए, हिन्दी का यह पद्य लीजिए

"भव–भव–विभव–पराभव–कारिणि।
विश्व-विमोहिनि, स्व-वश विहारिणि।।"

यहाँ हम 'भव' शब्द और उसके दूसरे रूपो के अलग-अलग अर्थ

व्याकरण के ज्ञान से ही निश्चित कर सकते हैं। इसी ज्ञान से हम जान सकते हैं कि पहली पंक्ति में अनेक शब्द मिलकर एक शब्द बना है, और इनके बीच में कोई शब्द अथवा प्रत्यय नहीं लाया जा सकता। इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण है

"जग में 'दिया' अनूप है, 'दिया' करो सब कोय,
करका 'दिया' न पाइए, जोपै 'दिया' न होय।"

इस पद्य में व्याकरण ही हमें बताता है कि 'दिया' शब्द के भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न रूप क्यों हैं?

(२) 'ऊह' तर्क-वितर्क और व्युत्पत्ति से अर्थ निश्चित करना है। इसका उदाहरण यह है

"बहुरि शक्र सम बिनवौं तेही।
सन्तत सुरानीक हित जेही॥"

इस पद्य में उपमा के दोनों अंगों में अर्थ घटाने के लिए 'सुरानीक' सन्धि का विग्रह करना होगा, जो व्याकरण का एक विषय है। व्याकरण-अनभिज्ञ व्यक्ति को सुरानीक के दोनों अर्थ स्पष्टतया समझाना दुरूह नहीं, तो कठिन अवश्य है। इन्द्र को 'शक्र' कहने का कारण पिछले शब्द की व्युत्पत्ति ही से जाना जाता है।

शब्दों के अवयवार्थ से पूरे शब्द का अर्थ निश्चित करने की प्रवृत्ति नये लेखकों में बहुधा इतनी अधिक होती है कि वे कभी-कभी उनका उपयोग करने में भद्दी भूलें कर बैठते हैं। एक नवोदय लेखक को यह वाक्य लिखना था कि "आपका पत्र हस्त-गत हुआ।" उसने सोचा कि 'हस्त-गत' के अवयवार्थ का दूसरा अच्छा शब्द लिखना चाहिए, इसलिए उसने अपना वाक्य यों लिखा कि आपका पत्र पाणि-ग्रहण हुआ।

(३) 'आगम' शास्त्रीय ग्रन्थों को पढ़ने की योग्यता को 'आगम' कहते हैं। जहाँ भाषा भी जटिल और भाव भी जटिल हैं, वहाँ वाक्य-विच्छेद और पदच्छेद के द्वारा ही लोग निश्चित अर्थ ग्रहण कर सकते हैं। पारिभाषिक शब्दों का अर्थ समझने में भी व्याकरण की सहायता अपेक्षित है। उपमेय, उपमान, उपमिति, उपलक्षण आदि का अर्थ जानने के लिए व्याकरण की सहायता लेनी होगी।

"पूजिय विप्र सकल-गुण हीना ।
नहिन शूद्र सब-कला-प्रवीना ।।"

यदि कोई इस सिद्धान्त का अर्थ अछूतोद्वार की दृष्टि से करने के लिए दूसरी पंक्ति 'नहिन' शब्द का अन्वय पहली पंक्ति के साथ मिलावे, तो उसे व्याकरण के आधार पर बताना होगा कि ऐसा अन्वय शुद्ध नही है। "रोको मत, जाने दो" मे भी यही व्यति क्रम किया जाता है।

"एक छत्र, इक मुकुट–मणि,
सब वर्णन पर जोय,
तुलसी रघुवर नाम के,
वरण विराजत दोय ।"

इस दोहे का अर्थ समझने के लिये व्याकरण के उस भाग के अध्ययन की आवश्यकता है, जिसे वर्ण-विचार कहते हैं। 'विनय-पत्रिका' के प्रथम पचीस पदो का अर्थ समझने के लिये अनेक स्थानो मे व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है।

(४) लघु (लाघव) विस्तृत विवेचन को स्पष्टीकरण के लिये सक्षेप मे कह देना 'लाघव' कहलाता है। सस्कृत मे अनेक शास्त्रो के नियम सूत्रो मे दिये गये हैं जिनकी शुद्ध और स्पष्ट रचना के लिये व्याकरण का अच्छा ज्ञान अपेक्षित है। वैयाकरण वाक्य को वाक्याश, और वाक्याश को शब्द मे परिणत कर सकता है। वह बिना अर्थ बदले अनेक का एक और एक के अनेक वाक्य बना सकता है। "जिस के समान कोई दूसरा नही है", इस उपवाक्य को वह एक शब्द "अद्वितीय" मे बदल सकता है। दुसरे लोग भी ऐसा कर सकते हैं, पर अंधेरे मे टटोलने के समान। भाषा का यथार्थ दीपक तो व्याकरण ही है।

(५) 'असन्देह' शब्दार्थ या वाक्यार्थ की स्पष्टता को 'असन्देह' कहते हैं। अवैयाकरण करतल-गत को "करत-लगत" अथवा "दशरामशरा" को "दशरा-मशरा" समझ सकता है, पर वैयाकरण के ऐसे भ्रम मे पड़ने की सम्भावना नही है। एक बार ब्रह्मा, विष्णु और महेश के बीच मे "रामेश्वर" शब्द के समास के सम्बन्ध से विवाद हुआ। (देवता लोग भी वैयाकरण

होते हैं।) तीनों देवताओं ने अपना-अपना अलग विग्रह बताया, जो इस प्रकार है

"षष्ठी तत्पुरुषो रामो, बहुव्रीहि महेश्वर ।
रामेश्वर-पदे ब्रह्मा कर्मधारयमब्रवीत् ।"

अर्थात् राम ने "रामेश्वर" को षष्ठी तत्पुरुष (राम के ईश्वर) कहा; महादेव ने उसे बहुव्रीहि (राम हैं ईश्वर जिसके) बताया, तब ब्रह्मा ने समझाया कि यह कर्मधारय समास है (राम ही ईश्वर हैं)। इस प्रकार तीनों देवताओं ने व्याकरण की सहायता से अपने सन्देह का निवारण किया। यदि किसी को नीचे लिखे पद्य में "पनही" का सन्देह हो तो वह व्याकरण की सहायता से उसका निवारण कर सकता है

"सुन्दर 'कोप' नहीं सपने।"
अथवा
"सुन्दर को 'पनही' सपने।"

अन्य भाषाओं में भी सन्देह के निवारणार्थ व्याकरण के ज्ञान का प्रयोजन पड़ता है। एक बार अकबर बादशाह ने किसी भाँड को एक घोड़ा इनाम में दिया। दूसरे दिन उस भाँड का लड़का उसी घोड़े पर सवार होकर शाही महल के सामने से निकला। बादशाह ने घोड़े को पहचानकर उस लड़के से विनोद में कहा—ई अस्प पिदरे तुस्त (यह घोड़ा तेरा बाप है), पर उन्हें कहना यह था कि ई अस्पे-पिदरे तुस्त (यह तेरे बाप का घोड़ा है)। भाँड का लड़का भी फारसी जानता था, और वह बादशाह का विनोद समझ गया, इसलिए उसने हाथ जोड़ कर कहा कि "दादए हुजूर अस्त" (यह हुजूर का दादा है, अथवा हुजूर का दिया हुआ है)।

उपरोक्त विवेचन का सार एक संस्कृत लेखक ने इस प्रकार दिया है

"अर्थ-प्रवृत्ति तत्वानां शब्द एव निबन्धनम् ।
तत्वान् बोध शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते ।"

अर्थात् 'अर्थ-प्रवृत्ति-तत्वका बन्धन शब्द ही है, और शब्दों के तत्व का निर्णय व्याकरण के बिना नहीं हो सकता।"

प्राय सभी जातियों में साहित्य की भाषा बोल चाल की भाषा से

थोड़ी-बहुत विशेषता अथवा भिन्नता लिये रहती है। यह साहित्यिक भाषा स्वय उसके विद्वानो की सर्व सम्मति से निश्चित की जाती है। तब यह एक बड़े ही आश्चर्य की बात है, जो विद्वान् एक सांस मे उसे स्वीकृत करते हैं, वे ही दूसरी सांस मे उसका विरोध करते हैं। इस भाषा को कोई भी मनुष्य केवल अपनी मातृभाषा के आधार पर नही सीख सकता। उसे उसका अध्ययन करना पड़ता है उनकी विशेषताएँ सीखनी पड़ती हैं, और यदि उसमे अधिकार पूर्ण योग्यता प्राप्त करना है, तो उसके व्याकरण का अध्ययन करना पड़ता है। तथापि व्याकरण का अध्ययन केवल नियमो का रटना नही है, किन्तु जीवित भाषा के प्रयोग का अवलोकन करना है। आप अशुद्ध से अशुद्ध भाषा मान लीजिए, पर उसकी अशुद्धता मे भी शुद्धता के नियम रहेंगे, और उन नियमो को जानना उसके प्रत्येक विद्वान का काम होगा। उसका यह नियम-समूह ही उसका व्याकरण कहलाएगा।

व्याकरण के विषय मे अधिकाश लोगो की यह धारणा है कि यह केवल एक कला है, जो अभ्यास से आती है, और जिसका शास्त्रीय अध्ययन अनावश्यक है। यदि थोड़े समय के लिए यह मत मान भी लिया जाय, तो भी भाषा का अर्थ समझने और उसका प्रयोग करने मे अनेक अवसर ऐसे आते हैं, जिन मे भूल का कारण अथवा अर्थ की स्पष्टता व्याकरण-ज्ञान से ही जानी जा सकती है। प्रकृति के अनुसार चलने के स्वास्थ्य मे बहुधा बाधा उपस्थित नहीं होती, पर जब असावधानी अथवा अपथ्य से रोग उत्पन्न हो जाता है, तब उसकी चिकित्सा करनी ही पड़ती है। कुछ लोग ऐसा भी समझते हैं कि विदेशी अथवा अप्रचलित भाषाओ का ज्ञान प्राप्त करने के लिए व्याकरण-शिक्षा की आवश्यकता भले ही हो, पर मातृभाषा जानने के लिए व्याकरण-ज्ञान की कोई आवश्यकता नही है। इस मत को भी मान लें, तो भी यह कहना पड़ेगा कि किसी दूसरी भाषा का व्याकरण और वह भी दूसरी भाषा मे सीखने के पहले मातृभाषा का व्याकरण मातृभाषा मे ही सीखना अधिक न्यायसगत और उपयोगी है। तुलसीदासजी ने कहा है

"स्वारथ परमारथ सकल, सुलभ एक ही ओर,
द्वार दूसरे दीनता, उचित न तुलसी तोर।"

व्याकरण के मूलतत्व तो प्राय सभी भाषाओ मे समान रहते है

लिंग, वचन, कारक, काल, अव्यय आदि का विवेचन सभी व्याकरणों में रहता है। तब विद्यार्थी इन सबका ज्ञान अपनी मातृभाषा में क्यों न प्राप्त कर लें? इसके सिवा जब पाठशालाओं की ऊँची कक्षाओं में व्याकरण पढ़ाया ही जाता है, और महाविद्यालयों में उसके ज्ञान का उपयोग भाषा-विज्ञान के अध्ययन में किया ही जाता है, तब व्याकरण की उपयोगिता के विरुद्ध कुछ भी कहना प्रलापमात्र है। जो लोग इसका विरोध करते हैं, वे भी व्याकरण पढ़ चुके हैं, पर खेद यही है कि असावधानी, आलस्य अथवा अयोग्यता के कारण उन्होंने अपना ज्ञान नहीं बढ़ाया।

कोई भी अपनी मातृभाषा बोलते या लिखते समय सदैव भूलें नहीं करता। देहाती और अपढ़ लोग भी अपनी भाषा शुद्धतापूर्वक बोलते हैं। यदि ऐसा न होता, तो लोगों को एक-दूसरे की भाषा और भाव समझने में कठिनाई होती। हमारे जो लेखक साहित्यिक भाषा लिखने में कभी-कभी प्रान्तीय प्रमाद कर बैठते हैं, वे भी अपनी मातृभाषा शुद्धता से बोल कर कहते हैं कि "उई कहिन कौ खाएकों तौ मैं सब कुछु देत हौं।" पर जब वे साहित्यिक हिन्दी लिखने लगते हैं, तब बहुधा यह भूल जाते हैं कि साहित्यिक भाषा के कर्ता कारक में कभी-कभी 'ने' प्रत्यय आता है, और अपनी मातृभाषा के आधार पर "हम कहे और वे सुने" लिख देते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि बिना साहित्यिक भाषा का अध्ययन किए बहुधा लेखक लोग और विशेष कर नवयुवक ऐसी भाषा लिखते हैं, जो अन्य भाषा-भाषियों को भी खटकती है। हिन्दी की छपाई में भी विराम—चिह्नों और वर्ण-विन्यास की भद्दी भूलें देखकर दूसरे लोगों को आश्चर्य और परिताप होता है। हिन्दी की छपी पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं में साहित्यिक शुद्धता बहुत कम पाई जाती है।

हिन्दी में भाषा-सम्बन्धी भूलें होने का एक कारण यह भी है कि अनुवादी लेखक बहुधा बंगला तथा अन्य भाषाओं की पुस्तकों का अनुवाद करने में उन भाषाओं की रचना का अनुकरण करते हैं। बंगला के 'लइया' और 'जेमन' शब्दों के अनुवाद का प्रचार हमारी भाषा में बिना प्रयोजन के हो रहा है। "मौलिकता का नाम 'लेकर' आजकल बड़ा अन्याय और अत्याचार हो रहा है।" इस वाक्य में 'लेकर' पूर्व-कालिक कृदन्त का कर्ता ही नहीं है। "हड्डियों के ढाँचे पर सूखा चमड़ा मढ़ा हुआ है, जैसे बड़े भारी बोझ से

ढका हुआ है ।" यहाँ 'जैसे' के स्थान पर 'मानो' चाहिए ।" अंगरेजी के परोक्ष भाषण के अनुकरण का प्रचार तो इतना बढ गया है कि "उसने उससे कहा कि उसका वह आयेगा", इस वाक्य मे यह पता नही लगता कि कौन कहता है, कौन सुनता है और किसका कौन आता है ! कुछ लेखक कदाचित् जान-बूझकर अशुद्ध प्रयोग इसलिए करते हो कि पाठक उसको उनकी विशेषता समझे और समालोचक उसकी चर्चा सामयिक पत्रो मे करके येनकेन-प्रकारेण उन्हे पाठको के सामने उपस्थित करे ।

हमारी भाषा मे भूलो से सम्बन्ध रखने वाला एक विचारणीय विषय यह भी है कि हम लोगो मे व्याकरण सम्बन्धी चर्चा बहुत कम होती है, और लेखको की भाषा की समुचित समीक्षा नही की जाती । रीति ग्रन्थो का अनुसरण करना हमारे लेखको की बुद्धि मे मानो अपना स्वतन्त्रता और आत्म-गौरव खोना है । इसी प्रकार के विचारो से प्रेरित होकर लेखक लोग बहुधा नियम-भग को ही अपनी भाषा के उद्धार का साधन मानने लगे हैं । हिन्दी मे शुद्ध भाषा लिखने वाले अनेक कवि और लेखक है, और दूसरे लोग उनकी रचनाओ को प्रेम से पढते है, तो भी वे लोग उनका अनुकरण कर के अपनी मर्यादा को बढाना नही चाहते । जहाँ और भाषाओ मे नवयुवक सुलेखको को अपना आदर्श मानते हैं, वहाँ हिन्दी मे नवयुवक लेखको की कदाचित् यह इच्छा रहती है कि सुलेखक ही उनका अनुकरण करके स्वच्छन्द बने ।

हिन्दी-व्याकरण का विरोध करने वाले अधिकाश मे ऐसे ही सज्जन पाये जाते हैं, जो निरकुशता के वशीभूत होकर अपने ऊपर किसी प्रकार का शासन नही चाहते । वे केवल प्रान्तीय सत्ता ठीक समझते है, केन्द्रीय उत्तर-दायित्व आवश्यक नही मानते । ऐसी अवस्था मे भाषा-रूपिणी अराजकता अवश्यम्भाविनी है, और जिस एक-रूपता मे शासन मे सुविधा उत्पन्न होती है, उसका लोप प्राय निश्चित है । उस समय अपनी-अपनी डफली बजाने और अपना-अपना राग सुनाने का अपूर्व अवसर उपस्थित होगा । मुझे तो ऐसा अनुमान होता है कि ये अहम्मन्य महाशय व्याकरण का नाम ही मिटाना चाहते हैं, जिससे न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी । इनका कदाचित् यह विचार है कि राष्ट्रीय भाषा का रूप 'बटलरी' हिन्दी होना चाहिए ।

उच्च शिक्षा मे व्याकरण का ज्ञान बहुत आवश्यक है । यदि आप

भाषा-विज्ञान का अध्ययन करना चाहते है, तो आपको अपनी मातृभाषा के ज्ञान के साथ तुलना करने के लिए अन्य दो-एक भाषाओं के व्याकरणों का भी ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। यदि आप इस विषय पर ग्रन्थ लिखना चाहते हैं, तो आपको इससे भी अधिक ज्ञान होनी चाहिए। अप्रचलित भाषाओं के अध्ययन के लिए व्याकरण की सहायता नितान्त आवश्यक है। शिला-लेखों की भाषा खोज निकालने का कार्य व्याकरण के ज्ञान के बिना सम्पन्न होना कठिन है। यदि कोई विद्वान व्याकरण-विषय का शिक्षक या परीक्षक है, तो उसे विद्यार्थी की अपेक्षा कम-से-कम चौगुना ज्ञान, अवश्य होना चाहिए। सूत्र रचने, एस्पेरेण्टो के समान कल्पित भाषा गढने और शब्द-कोष बनाने का कार्य व्याकरण के ज्ञान के बिना पल-भर भी नहीं चल सकता। जो न्यायाधीश शब्दवाद के आधार पर किसी अपराधी को प्राणदण्ड देता है, अथवा प्राणदण्ड से मुक्त करता है, वह यदि केवल भाषा ही जानता हो और व्याकरण से अनभिज्ञ हो, तो उसे उस उत्तरदायी पद के योग्य न समझना चाहिए। उसे तो अपनी निष्पत्तिका प्रत्येक वाक्य और प्रत्येक शब्द तर्कशास्त्र, व्याकरण और कानून की दृष्टि से बार-बार जाँचने की आवश्यकता है, जिससे अर्थ का अनर्थ और अन्याय होने की सम्भावना न रहे। शब्दों के अशुद्ध ज्ञान और अशुद्ध प्रयोग से न जाने कितने वाद-विवाद, कितने झगडे और कितने अन्याय होते रहते हैं! इसीलिए हमारे ऋषि-मुनियों ने कहा है

"एक शब्द सम्यग् ज्ञात, सम्यक् प्रयुक्त
स्वर्गे लोके कामधुग् भवति।"

हिन्दी भाषा को राष्ट्र-भाषा बनाने के प्रस्ताव की ओट में भी व्याकरण विरोधी बहुधा यह कहा करते हैं कि कम-से-कम अन्य भाषा-भाषियों के सुभीते के विचार से तो हिन्दी का व्याकरण सहज कर दिया जाना चाहिए। इन लोगों की यह माँग बडी विचित्र है। ये लोग कदाचित् यह समझते हैं कि वैयाकरण किसी दफ्तर के बडे बाबू के समान है, जो पान-तम्बाखू के लिए कुछ भेंट लेकर लोगों को बडे साहब के नाम सिफारिशी चिट्ठी लिख देता है। ये लोग यह नहीं जानते कि वैयाकरण तो भाषा के नियमों में केवल व्यवस्था लाने का प्रयत्न करता है, और अपनी शक्ति-भर व्याकरण को सहज बनाता है। व्याकरण का कठिन अथवा सरल होना भाषा

की कठिनता एव सरलता पर निर्भर रहता है। जिस भाषा मे अधिक रूपान्तर होगे, अथवा नियम से अधिक अपवाद होगे, वह स्वभावत कठिन होगी, और वैयाकरण अनेक प्रकार की खोज और तर्क-वितर्क करने पर भी उसे सहज न बना सकेगा। जिन लोगो के सुभीते का ध्यान हमारे व्याकरण-विरोधियो को है, वे लोग इन लोगो की तरह अपनी मातृभाषा के व्याकरण का विरोध नही करते, वरन् हिन्दी व्याकरण से भी कठिन व्याकरण पढकर विद्वान् होते हैं। मराठी बहुत ही रूपान्तरशील भाषा है, और इस कारण उसका व्याकरण भी कठिन है, पर जहाँ तक मैं जानता हूँ, महाराष्ट्र ने अपने साहित्य-सम्मेलनो मे यह ऊटपटांग प्रस्ताव कभी नही किया कि मराठी व्याकरण सरल कर दिया जाय। यदि कोई ऐसा प्रस्ताव करता भी तो लोग उसकी बुद्धि मे सन्देह करने लगते। यह अन्धेर तो हिन्दी-भाषा-भाषियो ही मे है कि लेखक लोग अपने-अपने मन के रूपान्तर और प्रयोग करके भाषा को जटिल बना रहे हैं, और वैयाकरण से कहते हैं कि तुम अपना व्याकरण सहज बनाओ। उलटा चोर कोतवाल को डांटे!

कुछ लोग व्याकरण के लिग के पीछे बेतरह पडे हुए है। कोई सब शब्दो को पुल्लिग और कोई सबको स्त्रीलिग बनाना चाहते हैं। ये सर्वत्र एक लिगी भाषा का स्वप्न देख रहे हैं। कोई ऐसे भी हैं, जो चाहते है कि हिन्दी का व्याकरण तो रहे, पर उसमे से लिग-भेद हटा दिया जाय। यदि ये लोग लिग के सम्बन्ध से कुछ व्यवहारिक सूचनाएँ देते, तो वैयाकरण को कुछ सहारा मिल जाता, क्योकि लिग-भेद मिटाना वैयाकरण की शक्ति के बाहर है। लिग-व्यवस्था केवल हिन्दी मे ही नही है, किन्तु अन्यान्य भाषाओ मे भी है, पर अभी तक यह कही नही सुना गया है कि किसी भाषा से यह व्यवस्था हटा दी गई हो। मेरा मत तो यह है कि हिन्दी का—और दूसरी भाषाओ का भी लिग-भेद तब तक नहीं उठाया जा सकता, जब तक चेतन सृष्टि से नर-नारी का और जड जगत से कोमलता तथा कठोरता का अन्तर नही उठाया जाता। सौभाग्य की बात तो यह है कि हिन्दी मे नपुसक लिग नही है, जो दूसरी भाषाओ मे पाया जाता है।

आजकल पाठशालाओ मे विदेशी भाषा की शिक्षा प्रत्यक्ष पद्धति से दी जाती है, जिसमे व्याकरण का बहुत कम उपयोग होता है, पर अनुभव से

यह सिद्ध हुआ है कि भाषा के अध्ययन के साथ-साथ व्याकरण-शिक्षा की भी आवश्यकता है । व्याकरण की शिक्षा न देने से केवल भाषा के अध्ययन के कारण विद्यार्थियों में जो भ्रम फैलता है, उसका एक दृष्टान्त यह है

किसी शिक्षक ने विद्यार्थियों को सिखाया कि "माई हेड" माने "मेरा सिर' है । एक लडका घर में पाठ सीखते समय कहने लगा कि "माई हेड" माने "मास्टर का सिर" । जब लडके के बाप ने यह सुना, तब उसने लडके को बताया कि "माई हेड" माने "मास्टर का सिर" नही, "मेरा सिर" । बाप के चले जाने पर लडका अब यह सीखने लगा कि "माई हेड" माने "बाप का सिर" । जब दूसरे दिन लडका पाठशाला में गया, तब मास्टर ने पूछा, 'माई हेड" माने क्या ? लडके ने उत्तर दिया, "माई हेड" माने घर में "बाप का सिर" और स्कूल में "मास्टर का सिर" ।

लेख आवश्यकता से कुछ अधिक बढ गया है, इसलिए अब मैं चार-छः प्रमुख लेखकों और कवियों की कृतियों में पाये जाने वाले भाषा-दोषों के कुछ उदाहरण देकर इस लेख को समाप्त करूँगा । यद्यपि कवियों और लेखकों के नामोल्लेख से इन उदाहरणों का महत्त्व बढ सकता है, तो भी एक को घटाकर दूसरे को बढाना एक प्रकार की कुटिल नीति है

(१) नीचे लिखे अशुद्ध प्रयोग पाठकों ने बहुधा पढे और सुने होंगे

(क) बाँभनन पुन्य सिस लूट ही 'मचायो' है ।
(ख) कर महावीर का मान अहिंसा 'सीखा' ।
(ग) यह ध्वजा प्रबल सब देशों में 'उडवाया' ।
(घ) बनते हैं महामान्य बडे धर्म के 'आधीश' ।

(२) नीचे लिखे वाक्य में लेखक ने समानाधिकरण वाक्य और विभक्ति का कैसा विचित्र मेल मिलाया है

"इसके बाद प्रभा ने अपनी सखी जिसका नाम कमला था 'से' सब समाचार कहा ।

(३) एक लेखक व्याकरण न जानने में अपना गौरव समझते हैं, व्याकरण का विरोध करते हैं, और साथ ही व्याकरण-विषयक समीक्षा इस प्रकार करते हैं

नागरी मे 'कारको को' कर्ता एव कर्म शब्दो के साथ सटाकर लिखना चाहिए या हटाकर ? यहाँ लेखक महाशय यह नही जानते कि 'कारको के बदले विभक्तियो' और 'कर्ता के कर्म-शब्दो' के स्थान मे 'कर्ता और कर्म कारको' होना चाहिए। यह 'अव्यापारेषु व्यापार' है।

(४) पर 'वेकार' के लिए अन्य भाषाओ के शब्द वा मुहाविरे ला ठूँसना भाषा-सम्बन्धी अशिष्टता है।

यहाँ 'वेकार' विशेषण है, जिसको समझने के लिए व्याकरण के ज्ञान की आवश्यकता है। 'विना काम के' वाक्यांश के वदले 'वेकार' शब्द का अशुद्ध प्रयोग करने से यह भ्रम उत्पन्न होता है कि लेखक महोदय वेकार और वेकारी की समस्या हल कर रहे हैं।

(५) क्रान्ति का प्रवाह जिस मार्ग से प्रवाहित हो रहा है, वह मनुष्य को 'मजिले-मकसूद' पर पहुँचने मे कहाँ तक सहायक होगा ?

यहाँ सस्कृत शब्दो का प्रवाह है, पर उसमे भी यह 'मजिले-मकसूद' नही वह सका। 'ज' और 'क' के नीचे विन्दियाँ भी है, जिनसे लेखक का यह अभिप्राय जान पडता है कि पाठक भी इसी प्रकार गगा-मदार के जोडे मे विन्दियाँ लगाया करें।

(६) भारत-भूमि लता-कुजो से
अव भी 'अतिशय' सजती है।
किन्तु' चैन की वह मृदुवशी
आज 'न' इसमे वजती है।

इस पद्याश की पहिली पक्ति मे 'किन्तु' और 'न' शब्दो का प्रयोग अशुद्ध है, 'अतिशय' के वदले 'अत्यन्त', 'किन्तु' के वदले 'परन्तु' और 'न' के वदले 'नही' होना चाहिए। मात्राओ की कठिनाई अशुद्ध प्रयोग का कोई कारण नही है।

(७) इसमे सन्देह नही कि व्यास, कालिदास, श्री हर्ष, शेक्सपियर, चॉसर, मिल्टन् सादी, हाफिज, खाकानी उर्फी, सौदा, मीर, आतिश, रस्किन, होमर, वर्जिल, तुकाराम, मधुसूदनदत्त, प्रभृति अनेक कविजन ससार मे हो गए हैं।

इस वाक्य मे व्याकरण के दोष तो नही हैं, पर नामो की लम्बी सूची असीम है। व्याकरण की दृष्टि मे भी इस साधारण वाक्य मे सब मिलाकर २० उद्देश्य हैं। जब इसमे प्रभृति शब्द है, अब अधिक मे अधिक पाँच नाम दिये जा सकते थे, पर यहाँ तो वे सिर-पैर की पूरी मर्दुमशुमारी कर दी गई है।

(८) हममे 'हमारे' दुखो को सहने की शक्ति कहाँ तक है यह हमारे साहस की जाँच है।

यहाँ 'हमारे' के बदले 'अपने' होना चाहिए। बड़े-बड़े विचार वाले लेखको को भाषा-रूपी समुद्र मे इन तिनके जैसी भूलो का बहुधा ध्यान नही रहता। यहाँ 'हमारे' प्रान्तीय प्रयोग है।

(९) एक प्रतिष्ठित सभापति, जो व्याकरण के विरोधी है और वैयाकरण को भाषा का शत्रु समझते हैं, किसी गूढ भावावेश के वशीभूत होकर, पद्यमय भाषण करते हैं और अपने मूल विचारो को भूलकर अपने मित्र को व्याकरण लिखने का उपदेश पद्य मे देते हैं। आप कहते हैं—

"व्याकरन, विज्ञान की
बहु रचहु पुस्तक मित्र।
कृषि, रसायन, गनित सास्त्रन
पर सुग्रन्थ 'विचित्र'।"

इस पद्य पर टीका-टिप्पणी व्यर्थ है, पर 'सुग्रथ का 'विचित्र विशेषण सचमुच मे विचित्र है। साथ ही विज्ञान, कृषि, रसायन और गणित-शास्त्रो के पहले व्याकरण के नामोल्लेख मे छायावाद की-सी छटा दिखाई देती है, क्योकि इसमे वदतो-व्याघात और अव्यक्त वेदना का विचित्र सम्मिश्रण है।

(१०) एक और उदाहरण है

'मेरा भी यही विचार है कि कविता मे कुछ-कुछ ब्रजभाषा एव अवधी इत्यादि का प्रचार 'बने' रहने मे कोई हानि नही है।

यहाँ 'बने' के बदले 'बना' चाहिए।

(११) "उनकी इच्छा तो यही है कि विचार को ठीक-ठीक व्यक्त किया जाय।" व्याकरण मे कर्त्तृवाच्य से कर्मवाच्य वा भाववाच्य बनाया जाता

है, पर यहाँ कर्मवाच्य से भाववाच्य बनाया गया है, जो सर्वदा अस्वाभाविक और व्याकरण-विरुद्ध है।

अब हम एक ऐसी हिन्दी का उदाहरण देते हैं, जिसमे कदाचित् भारत की राष्ट्रीयता के विचार से एक प्रमुख प्रान्तीय भाषा की रचना सम्मिलित की गई है, और जिसमे व्याकरण और लिंग के सब बन्धन टूट गये हैं

"दिन गया, शाम गया, आर बेला नाई।
भानू का किरन कुछ नेई मालूम होई।
शेफाली, बकुल, जुई होय प्रस्फुटितो।
कोकिल पेडे के ऊपर गाय गीतो।"

अन्त मे निवेदन है कि लेखको की भाषा को व्याकरण की कसौटी पर कसने से भाषा की हानि नही, किन्तु उन्नति होती है, और लेखक को व्याकरण का ज्ञान होने से वह निरर्थक निरकुशता से बच सकता है, साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि वैयाकरण भाषा का शत्रु नही किन्तु सच्चा मित्र है, जो उसके साथ रहकर उसे दोषो से बचाता है, उसे भलाई मे लगाता है, उसकी गूढ बातें छिपाता है, और उसके गुणो को प्रगट करता है। इसके विरुद्ध भाषा का शत्रु वह लिक्खाड है, जो अपने दूषित प्रयोगो से भाषा को बिगाडता है, और अपने सम्पर्क से उसके गौरव को घटाता है।

|■|

प० कामताप्रसाद गुरु के हिंदी व्याकरण मे कई बातो मे मौलिकता से काम लिया गया। सज्ञा, सर्वनाम, विशेषण पर इनके विचार को तो परवर्ती समस्त भारतीय एव विदेशी व्याकरणकारो ने अपनाया है। क्रिया के विश्लेषणात्मक विवरण मे केलाग और गुरु की चिन्तन पद्धतियो मे थोडा-सा अन्तर है। 'अर्थ' एवं 'काल' का विश्लेषण छात्रो के लिये उपादेय है। केलाग ने रूप पर अधिक बल दिया है, गुरु ने अर्थ और प्रयोग दोनो पर बल दिया है। आखिर गुरुजी का सयुक्त क्रियाओ का विश्लेषण बेजोड है।

प्रो० ना० नागप्पा

व्याकरण संशोधन समिति (१९२०)

खड़े हुए

(१) श्यामसुन्दरदास
(२) रामनारायण मिश्र
(३) रामचन्द्र शुक्ल

बैठे हुए

(१) जगन्नाथदास रत्नाकर
(२) कामताप्रसाद गुरु
(३) महावीर प्रसाद द्विवेदी
(४) लज्जाशंकर झा
(५) चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

गुरुजी की काव्य रचनाएँ

उर्दू 'अशआर' !

[गुरुजी आरम्भ में उर्दू रचनाएँ लिखते थे। तत्कालीन प्रसिद्ध उर्दू-पत्रिका 'पयामे आशिक' में प्रकाशित कतिपय उच्चकोटि के 'अशआर' नीचे दिये जा रहे हैं।]

"गुरू" है आमदे-रंगत, समर जिस वक्त पकता है,
जवानी जिस किसी की हो, भली मालूम होती है।

दो कदम हाथ लगा कर जो वो हमराह चले,
अपने तावूत को हम तख्ते-सुलेमाँ समझे।

ऐ "गुरु" काम जो करना है जहाँ में कर ले,
आदमी अपने को दो रोज का मेहमाँ समझे।

अब दिल से "गुरु" यासो-तमन्ना को हटा दो,
घबरा के न मर जायें कहीं हम शबे-फ़ुर्क़त।

आज कल मुझ से वो बरहम हैं अदू से मिलकर
मेरी बिगडी हुई तकदीर बनाये कोई।

बन्दये-इश्क हूँ सिज्दे से मुझे काम नहीं,
सज्दये-शुक्र अदा होता है मयखानों में।

बेटी की बिदा !

१ प्यारी बहिन ! सौंपती हूँ मैं अपना तुम्हें खजाना ।
है इस पर अधिकार तुम्हारे बेटे का मनमाना ।।
हड्डी, मांस, रक्त, तन मेरा है यह बेटी प्यारी ।
करो इसे स्वीकार, हुई यह अब सब भांति तुम्हारी ।।

२ पूजे कई देवता हमने तब इसको है पाया ।
प्राण-समान पालकर इसको इतना बडा बनाया ।।
आत्मा ही यह आज हमारी हमसे बिछुड रही है ।
समझतीहूँ जी को, तोभी धरता धीर नहीं है ।।

३ बहिन, ढिठाई माता की तुम मन मे नेक न धरियो ।
इस कोमल बिरवा की रक्षा बडे चाव से करियो ।।
है यह नम्र मेमने से भी, भीरु मृगी से बढ़कर ।
कड़ी बात या चितवन से यह कँप जाती है थरथर ।।

४ है गँवार यह भोली, इसने नहीं शिष्टता जानी ।
तिस पर भी गुरुजन की आज्ञा बड़े प्रेम से मानी ।।
सांचे मे तुम इसे ढालियो, कभी न यह तड़केगी ।
बहिन सिखाने से चतुराई बेटी सीख सकेगी ।।

५ यह गुडिया, यह लक्ष्मी अपनी, जीवन-मूल दुलारी ।
हृदय थामकर करती हूँ मैं अब आंखो से न्यारी ।।
माता-नेह सोच तुम मन मे दुख मेरा अनुमानो ।
ममता छिपती नहीं छिपाये, बहिन, सत्य यह जानो ।।

६ इसका रूप निहार दिव्य मैं पल-पल सुख पाती थी ।
गान-समान सुरीली बोली इसकी मन भाती थी ।।
बहिन, तुम्हे भी ये सब बातें जान पड़ेंगी आगे ।
अपने नैन रखोगी इस पर जब तुम नित अनुरागे ।

७ इसकी मंद हँसी से मेरा मन अति सुख पाता था ।
कठिन घाव भी जिससे दुख का अच्छा हो जाता था ॥
इसे उदास देख आँखों मे भर आता था पानी ।
छिपी नहीं है, बहिन, किसी से माता-प्रेम-कहानी ॥

८ बड़ी लालसा भी निज मन की इसने नहीं बताई ।
कर सकोच कठिन पीडा भी अपनी सदा छिपाई ॥
तो भी मैं सब लख लेती थी इसके बिना कहे ही ।
यों ही तुम इसकी सब बातें लखियो बहिन, सनेही ॥

९ अपना मांस-पिंड देती हूँ मैं तन से कर न्यारा ।
है यह जीवन मेरे जी का, आँखों का है तारा ॥
इस अनाथ बच्चे का पालन माता-सम तुम कीजो ।
मेरी इस बलहीन दशा मे, बहिन बाँह गह लीजो ।

१० करो, बहिन, स्वीकार दयाकर मेरी इतनी विनती ।
बच्चो मे अपने तुम करियो इस बेटी की गिनती ॥
दीजे, बहिन, भरोसा मुझको हाथ हाथ मे देकर ।
बेटी-सम पालेंगी इसको हम माता-सम सेकर ॥

११ मेरी ये आँखें पीती थीं नित जो रूप मनोहर ।
क्या उसके दर्शन का मुझको फिर न मिलेगा अवसर ॥
जिस बोली से धीरे-धीरे इसे बुलाती थी मैं ।
क्या वह भी अब मूक रहेगी रख जी की जी ही मैं ॥

१२ हा मेरी अनमोल लाडली ! प्राणाधार दुलारी !
क्या तू मुझे नहीं समझेगी अब अपनी महतारी ?
तुझे नई माता मिलती है, मैं तुझको खोती हूँ ।
यही सोच सुख मे अब तेरे, बेटी, मैं रोती हूँ ॥

१३ हाय ! आज से हुआ हमारा यह घर-भरा अँधेरा ।
होकर निपट निराश न क्यों अब हृदय फटेगा मेरा ?

अब मेरे इस सूने घर को उजला कौन करेगी ?
कौन मधुर बातो से मेरा रीता हृदय भरेगी ?

१४ कौन सुरीली बीन बजाकर मधुर गीत गायेगी ?
घर मे कौन लडकियाँ छोटी न्योतन्योत लायेगी ?
सखियो के सँग कौन खायगी, खेलेगी, झूलेगी ?
किसको सुन रामायण पढते यह छाती फूलेगी ?

१५ हा बेटी ! हा गुडिया मेरी ! हा मेरी सुकुमारी ?
तेरे बिना हृदय यह मेरा दुख पावेगा भारी ॥
केवल देव दयामय जो दुख लख सकता है जन का ।
वही धीर दे दूर करेगा संकट मेरे मन का ॥

१६ जाकर वहाँ दूर, हे बेटी, मुझे भूल मत जाना ।
कभी-कभी इस दुखिया की भी सुधि निज मन मे लाना ॥
रो मत, बेटी, जा अपने घर सँग नई माता के ।
लीजे, बहिन, इसे, अब देती हूँ मै शीश नवा के ॥

|■|

बहू की अगवानी !

१ है मुझको स्वीकार तुम्हारा, बहिन, अमोल खजाना ।
पर इस पर अधिकार न होगा बेटे का मनमाना ॥
जैसा है यह अश तुम्हारा, वैसा ही जानूँगी ।
कभी न अपने बेटे से मैं इसे हीन मानूँगी ॥

२ बहिन ! तुम्हारी आत्मा को मैं निज आत्मा समझूँगी ।
अपने बल-भर तन-मन-धन से इसको सब सुख दूँगी ॥
बड़े चाव से इस बिरवा की रक्षा सदा करूँगी ।
सुधा-तुल्य प्रिय वचन बोलकर इसका हृदय हरूँगी ॥

३ अवसर कडी वात या चितवन का न कभी आवेगा ।
यदि आवेगा किसी समय, तो चला शीघ्र जावेगा ।।
वहिन, उदास न होओ इतनी, इतना दुख मत मानो ।
निज बेटी के लिए हमारा घर अपना ही जानो ।।

४—मेरी वहू—तुम्हारी बेटी है यदि भोली-भाली ।
देकर सीख बनाऊँगी मैं इसे चतुर गुणवाली ।।
यदि अशिष्ट है यह सचमुच तो इसको शिष्ट करूँगी ।
अपनी स्वय शिष्टता इसके मन मे सहज भरूँगी ।।

५ है यदि नम्र, बड़ो की आज्ञा पालन करने वाली ।
तो है उचित यही दो गुण हैं अन्य गुणो की ताली ।।
होकर सास करूँगी जो मैं निज सत्ता का दावा ।
करना होगा मुझे वहू के साथ सभ्य वर्त्ताव ।।

६ इसकी गुप्त लालसा, चिन्ता, पीडा मैं लख लूँगी ।
नव सकोच हटाकर इसका मन-चाहा कर दूँगी ।।
बहुत दिनो तक निज घर ही मे इसे न रोक रखूँगी ।
समय-समय पर पास तुम्हारे इसकी बिदा करूँगी ।।

७ वहिन ! तुम्हारे सुख-दुख मे है मेरा सुख-दुख सच्चा ।
किसी भाँति इस वियोग मे तुम करो न जी को कच्चा ।।
माता-प्रेम जानकर हूँ मैं लखती हृदय तुम्हारा ।
मेरी भी प्यारी बेटी है जैसा बेटा प्यारा ।।

८ विदा-समय अपनी बेटी के मैं भी दुख मे रोई ।
अब भी रोती हूँ, जब जगती है उसकी सुधि सोई ।।
अपनी वहू-तुम्हारी बेटी का अब लख मुख प्यारा ।
भूल रही हूँ निज बेटी के बिछोह का दुख सारा ।।

९ मेरे यहाँ तुम्हारी बेटी कष्ट न कुछ पावेगी ।
जैसे यहाँ, वहाँ भी वैसे खेलेगी, खावेगी ।।

रामायण भी वहाँ पढ़ेगी, मधुर गीत गावेगी ;
पा लेगी वह वस्तु सहज ही जो इसको भावेगी ॥

१० जैसी हो तुम भोली, बहिन ! मैं वैसी भोली रहूँगी ।
कभी न अपने जान बहू से तीखी बात कहूँगी ॥
अनुभव के अनुसार उसे घर-भार सौंप सब दूँगी ।
रुपयों-पैसों का मैं उससे लेखा कभी न लूँगी ॥

११ बार-बार देती हूँ तुमको, बहिन ! वचन मैं सच्चा ।
मेरी बहू मुझे है वैसी, जैसा मेरा बच्चा ॥
बहिन ! करो मत अधिक सोच अब करो कड़ी निज छाती ।
मेरे यहाँ रहेगी मेरी बहू, तुम्हारी थाती ॥

१२ जब सखियों के साथ तुम्हारी बेटी मिल झूलेगी ।
कुछ दिन में सुधि अपने घर की आप सहज भूलेगी ॥
हम सब भी तो छोड़ पिता-गृह पति-घर में रहती हैं ।
आकर यहाँ भाग्य-वश अपने सुख-दुख सब सहती हैं ॥

१३ सास-बहू की कलह-कहानी मैं बहुधा सुनती हूँ ।
सुन-सुनकर उसको रोती हूँ दुख से सिर धुनती हूँ ॥
स्वार्थ, क्रोध, ईर्षा, हठ से घर की दुर्गति होती है ।
उधर कोप से सास, त्रास से इधर बहू रोती है ॥

१४ दुष्ट कुतियाँ भी दोनों के मन में विष बोती हैं ।
जहाँ शान्ति है वहाँ कलह कर क्रान्ति खुशी होती हैं ॥
त्रिया-चरित से रहे प्रभो ! घर मुक्त सदैव हमारा ।
होवे कभी न दुष्टाओं का मेरे यहाँ पधारा ॥

१५ चलती हूँ अब, बहिन, कृपाकर मन से अनुमति देओ ।
भेजो मेरे साथ बहू को, धन्यवाद ले लेओ ॥
हम सबका सत्कार-मान जो तुमने, बहिन, किया है ।
उसने मानो तीन भाँति का हमें दहेज दिया है ॥

१६ आओ, बेटी, चलो संग में आज नई माता के ।
रोओ मत, निज मा से मिलना दो दिन में घर आ के ।।
जैसा सुख है तुम्हे यहाँ, वैसा ही वहाँ मिलेगा ।
वहू ! तुम्हारे रहने से हम सबका हृदय खिलेगा ।।

|■|

परशुराम (पौराणिक)

शिखा-सूत्र के संग शस्त्र का मेल विलोको,
निपट विप्र घर-बढे न जानो सरल द्विजों को ।
पूर्व-काल मे वेद-मंत्र थे कड़खे रन के,
सेना-नायक शूर, कुशल द्विज, ऋषि, मुनि बनके ।।१।।

लख सरोष स्वाधीन भाव मुनि-मुख-मंडल का,
मिलता है सब पता पूर्व-पुरुषों के बल का ।
क्षात्र-तेज यों ब्रह्म-तेज में यहाँ भरा है,
शांत-वीर-रस-कटक संग मानो उतरा है ।।२।।

भौंहे तनी, कटाक्ष, मगन मन, निश्चय जी का,
हम सबको संवाद सुनाते हैं यह नीका
गहो आप बल, बुद्धि, तेज, साहस प्रभुताई;
चल जीवन के लिए करो मत आस पराई ।।३।।

पर सहसा वह रूप देख होता है विस्मय
आर्य-लोग क्या एक समय थे ऐसे निर्भय ?
क्या हम सब जो आज बने हैं निर्बल कामी,
रहते थे स्वाधीन समर मे होकर नामी ।।४।।

जो हो, यह सब परशुराम ने कर दिखलाया,
क्षत्रिय-कुल का रक्त नदी-सा शुद्ध वहाया।
नहीं एक दो वार, वार इक्कीस समर मे,
सोये क्षत्रिय-वीर करोडो काल-उदार मे ।।५।।

अहकार उद्दड निरकुश क्षत्रिय-गन का,
लगा न मुनि को भला, सोच मे माथा ठनका।
विवश रक्ष्य ने युद्ध, रक्षको से तब ठाना,
भाला से भिड भूल गया भाला निज वाना ।।६।।

विद्यामय बल देख निरा वल पल मे भागा,
समर-सेज पर सोय, हाय ! फिर कभी न जागा।
तो भी मुनि ने राज्य-लोभ मे तजी न वेदी,
वार वार जय-भूमि सहज विप्रो को दे दी ।।७।।

लिये एक मे शस्त्र, अन्य कर मे कुश-पानी,
जीत-दान के लिए रहे तत्पर मुनि ज्ञानी।
पृथ्वी कपित हुई नाम से परशुराम के,
सहमे सदा सभीत निवासी देव-धाम के ।।८।।

भली नहीं है किसी काल मे विप्र-अवज्ञा,
करते हैं द्विज नम्र कुपित हो शाप-प्रतिज्ञा।
जो होते ये कहीं सबल सब, तो पल भर मे,
लाते सब ससार खींचकर एक नगर मे ।।९।।

हुआ समय का फेर, हाय ! पलटी परिपाटी,
जो थे कभी सुमेरु आज हैं केवल माटी।
क्षत्रिय-कुल निर्वंश सहज मे करने हारे,
परशुराम मुनि निरे राम बालक से हारे ।।१०।।

|■|

चाँदबीबी (ऐतिहासिक)

देश उत्तरी जीत, पाल नृप-नीति निराली,
महा मुगल ने नींव राज की गहरी डाली।
फिर इच्छा बढ़ चली और भी जय की जय से,
बढ़ता है ज्यों लोभ अधिक धन के सञ्चय से ॥१॥

तृष्णा ने कर दिया अंध अकबर के मन को,
ठाना उसने उचित लूटना विधवा-धन को।
राज-लोभ से चढ़ी, कुटिलता से उतराती,
मुगल-फौज की नदी, वही तट-ग्राम बहाती ॥२॥

दक्षिण में उस समय महा अन्याय मचा था,
दक्षिण-पति ने समर-रूप नर-मेघ रचा था।
लुटता था धन-धान्य, गाँव ऊजड़ होते थे,
अथाइयों में बैठ श्वान-जम्बुक रोते थे ॥३॥

बोकर खेत किसान लड़ाई पर जाते थे;
पर न लौटकर साख काटने को आते थे।
दुष्टों ने इस समय पुराना बैर निकाला,
भाई का घर किसी बालि ने मिलकर घाला ॥४॥

एक मुकुट ने सीस हजारों ही कटवाये,
कई कुलों के चिन्ह वृथा जग से मिटवाये।
दो को लड़ते देख तीसरे की बन आई,
फिर वह भी मर मिटा, लूट चौथे ने पाई ॥५॥

जो लड़ते थे सो न राज के थे अधिकारी,
धर्म-मूल पर नहीं हुई यह हत्या भारी।
ब्रह्मा ने युवराज रचा था जिसको सच्चा,
लिए काठ का खड्ग खेलता था वह बच्चा ॥६॥

बहुत समय तक रुकी न जब लोहू की धारा,
मंत्री, सेना, प्रजा तीन ने किया किनारा!
राज उन्होंने दिया उसी को था जो स्वामी;
प्रतिनिधि मानी गई चाँद सुलताना नामी ॥७॥

बीजापुर के राजपुत्र की विधवा रानी,
सुलताना थी बाल-भूप की बुआ सयानी।
निज भाई का पुत्र पुत्र-सम पाल रही थी;
राजनीति से राज-बखेड़े टाल रही थी ॥८॥

उसका यह अधिकार जिन्होंने उचित न जाना,
वे वैरी से मिले समझ निज राज बिराना।
लख पर-घर की फूट और पा सैन सहाई,
अहमदपुर पर मुगल-फौज की हुई चढ़ाई ॥९॥

अबला हो डर नहीं चाँदबीबी ने माना;
बाल-भूप के लिए प्राण देना भी ठाना।
सरदारों से कहा, द्वेष आपस का त्यागो,
सोचो निज कर्त्तव्य, देश-रक्षा-हित जागो ॥१०॥

तीन सुरंगें बड़ी वैरियों ने खुदवाई;
सुलताना ने तल-सुरंग से दो मिटवाई।
उड़ी तीसरी दुर्ग-भीत का भाग उड़ाती,
धड़की निज घर-फूट देख वीरों की छाती ॥११॥

तब कर में तलवार लिये बिजली सी नंगी,
पहने पूरा झिलम साज सब साजे जंगी।
घूँघट घाले घटा-रूप सुलताना धाई,
गोलों की बरसात भीत में से मचवाई ॥१२॥

सब लोहा चुक गया, तोप की बाड़ न चूकी;
ताँबा फूँका गया, गई फिर चाँदी फूँकी।

तब तोपों ने बड़े चाव से फूंका सोना,
फिर रत्नों ने किया अन्त में रण अनहोना ।।१३।।

वैरी ठहर सके न प्रबल आगी के आगे,
पल में घेरा उठा छोड़कर जी सब भागे ।
जाग रात-भर आप भीत उसने जुड़वाई,
नारी-पौरुष देख लाज पुरुषों को आई ।।१४।।

जब दक्षिण की ओर सहायक सेना धाई,
पहले से भी अधिक मुगल सेना घबराई ।
तब मुराद ने लखा, रसद दिन दिन घटती है,
जय की आशा छोड़ फौज पीछे हटती है ।।१५।।

सब प्रकार से समझ हीन अपने को बल में,
कर ली उसने सन्धि चाँदबीबी से पल में ।
अकबर को यह हार बुढ़ापे में यों खटकी,
दक्षिण को वह चला, बाट भूला मरघट की ।।१६।।

डाल दिया बुरहानपुर में उसने डेरा,
फिर से अहमदनगर-दुर्ग सेना ने घेरा ।
इस अवसर पर भी न चाल निज चूके द्रोही,
मुगलों की भी बाट न हत्यारों ने जोही ।।१७।।

धन के बदले महा घोर अघ करने वाले,
बच्चों के भी प्राण सहज में हरने वाले ।
कई दुष्ट जा घुसे घातकी राजमहल में,
धोखे में ले लिये प्राण अबला के पल में ।।१८।।

जिस आशा से पाप किया था सरदारों ने;
पूरी की वह मुगल-फौज की तलवारों ने ।
देश-द्रोह, नृप-घात, लूट सबका फल पाया,
पापि-लदे सब कटे, और परलोक नसाया ।।१९।।

भला-बुरा कुछ नहीं जगत का जिसने जाना,
जिसके कारण मरी अमर होकर मुलताना।
किसी समय जो राज्य-कोष का स्वामी होता,
बन्दी बन सब छोड, गया वह बालक रोता ॥२०॥

अकबर को यह जीत हुई ऐसी फलदाई,
चौथेपन की शान्ति न उसने पल-भर पाई।
मरने तक वह रहा दुखी सुत की करनी से;
फिर वैसा ही गया अचानक उठ धरनी से ॥२१॥

|■|

शील (नीति-परक)

संग्रह करो करोड़, लुटाओ धन अनगिनती,
ऊँचे आसन बैठ सुनो दासो की विनती,
निज प्रभुता के हेतु करो तुम सब कुछ नीका;
किन्तु शील के बिना, जगत मे है सब फीका ॥१॥

कहते हैं कवि लोग शील भारी भूषण है,
शील-हीन नर भूमि-भार, निज-कुल-दूषण है।
दान, मान, यश, रूप, शूरता साहस, बाने,
मोती-सम हैं सगुण शील-माला के दाने ॥२॥

शब्द-कोश मे "शील" शब्द व्यापक है जितना,
गीता मे भी "धर्म" नहीं है व्यापक इतना।
आगे रख निज "शील" "धर्म" है गुण दरसाता,
गुण-वाचक सब नाम अकेला "शील" बनाता ॥३॥

शील नम्रता सबल, सत्यता है अति प्यारी;
न्याय सहित है दया प्रेम का भी अधिकारी।
सदाचार है शील, शील विद्या पढ़ना है;
तन-मन-धन से सदा, शील आगे बढ़ना है ॥४॥

शील सत्य वैराग्य, दण्ड यति का धारण है;
यही यज्ञ, व्रत, कर्म, परम पद का कारण है।
यही ज्ञान, विज्ञान, यही है गुण, चतुराई,
ऊँचे कुल का चिह्न, देह-मन की रुचिराई ॥५॥

सब धर्मों का एक शील है छिपा खजाना;
अवगुण काले नाग जानते नहीं ठिकाना।
धर्म शील के बिना वास्तविक धर्म नहीं है,
शीलवान को सकल स्वर्ग आनन्द यहीं है ॥६॥

शील त्यागि नर वृथा धर्म का अभिलाषी है;
अपना अन्तःकरण सत्य इसका साखी है।
कपट, क्रोध, अभिमान न हिय से जिनके छूटा,
पुण्य उन्होने कौन जगत मे आकर लूटा ॥७॥

जिसने आदर सहित गुणी को नहीं बिठाया;
दीन-प्रणाम विलोक, हाथ कुछ भी न उठाया;
मधुर-वचन सुन, मधुर वचन जो कभी न बोला,
विधि ने किया अनर्थ, दिया उसको नर-चोला ॥८॥

विद्या-बढती जिन्हे, नहीं दीनो की भाती,
जिनको इच्छा कुटिल आप-सुख मे है माती,
करें न जो स्वीकार दया अपने छोटे की;
धर्म करेंगे भला कौन ये लोग कुटेकी ॥९॥

अपने चारो ओर देख दुख दारुण छाया;
एक विपल भी जिन्हे दुखी का ध्यान न आया,

जिन्हें परोदय देख, कष्ट होता है भारी;
क्या है जग को लाभ, हुए जो वे अधिकारी ॥१०॥

निज भाषा का प्रेम, धर्म-रति, देश-भलाई;
होकर सब सम्पन्न, जगत में जिन्हें न भाई;
जीभ दबाकर बात जिन्होंने सदा उचारी;
ऐसे ही नर बने हुए हैं धर्माधारी ॥११॥

सब धर्मों को छोड़ शीलव्रत ही अब धारो;
शील धर्म है, गिरा हुआ है, इसे उबारो।
बोने से छल-बीज सत्य-फल कहाँ मिलेगा?
कठिन शिला पर कमल भला किस भाँति खिलेगा ॥१२॥

|■|

दीन-निहोरा (भक्ति-परक)

दया दयामय नाथ! सदा है अमित तुम्हारी,
जो तुमने सुधि कभी दीन की नहीं बिसारी।
कौतुक करती नित्य तुम्हारी करुणा नाना,
धन, प्रभुता, बल, बुद्धि व्यर्थ है निरा बहाना ॥१॥

जो कौड़ी को दुखी दीन है सदा तरसता,
सहसा कंचन-मेह उसी के यहाँ बरसता।
मरनहार जो फँसा कठिन रोगों के दल में,
जीव दान तुम नाथ! उसे देते हो पल में ॥२॥

खुली ठौर के कड़े शीत में जो मरता है,
दिव्य धाम में वही वास सुख से करता है।
आन-हीन की आन नाथ! तुम ही हो जग में;
बिछ जाते हैं फूल दीन के कंटक मग में ॥३॥

बालक-बिन धन-भरा भवन है जिनका सूना,
मानो सुख के सहज दीखते वही नमूना।
शिरोधार्य है सदा कोप भी नाथ ! तुम्हारा,
ससारी वर्ग इसे सके क्या रोक विचारा ॥४॥

रहता है शुभ नाम तुम्हारा मुख पर दुख मे,
हाय ! उसे हम अधम भूल जाते है सुख मे।
तो भी करुणा नहीं तुम्हारी कम होती है;
अंतर्यामी-दृष्टि जगत् पर सम होती है ॥५॥

मद-माता जग भला दीन-दुख क्या पहचाने;
दीन-बन्धु बिन कौन दीन के हिय की जाने।
दुख मे जो आधार न होता नाथ ! तुम्हारा,
निराधार यह जीव भटकता मारा मारा ॥६॥

कभी कभी है काज तुम्हारे यदपि अनोखे,
तो भी उनसे लाभ सृष्टि पाती है चोखे।
जन्म, मरण, दुख, हर्ष नियम का सह सचालन,
करते हैं आदेश तुम्हारा निशि-दिन पालन ॥७॥

|■|

ग्रामीण-विलाप (अनुवाद)

रवि ने लाली गही, गैल मे गोरज छाई,
घर को अभी किसान फिरे कर खेत कमाई।
सध्या-वन्दन-निरत विप्र सर-तीर विराजे,
थकी-प्रकृति ने सकल साज सोने के साजे ॥१॥

अब क्रम क्रम सर्व ओर फैलने लगा अँधेरा,
किया वायु ने वद शान्त होकर निज फेरा।
जीव-जन्तु, चर-अचर, घरों मे जाकर सोये,
सबही ने जग-जाल-जनित निज निज श्रम खोये ॥२॥

जाग रहे हैं चोर, पहरुए, उल्लू कामी,
वृक, चकोर, जन दुखी, कर्म निज के अनुगामी।
कभी बोलते स्यार, कभी झिल्ली रव करती।
विरह-व्यथा से निशा-शान्ति है कभी विदरती ॥३॥

उन पेड़ो के पास खेत सा है जो फैला,
पंच तत्व मे मिला पडा है वहाँ अकेला।
ठौर-ठौर मे एक-एक ग्रामीण सयाना,
तज निज घर, परिवार, भूमि, रथ, वाहन नाना ॥४॥

प्रात-सुगध-समीर, तीक्ष्ण धुनि अरुण-शिखा की,
चिडियो की मनहरण सुरीली बोली बाँकी,
कथा, गान, रण-वाद्य, सभा या खेल-तमाशे,
जगा सकेंगे इन्हे न अब अन्तिम निद्रा से ॥५॥

टहल न इनकी कभी किसी को होगी करनी,
घर आने की बाट न अब देखेगी घरनी।
बच्चे भी अब दौड न इनके ढिग आवेंगे,
नहीं गोद मे बैठ प्रेम से तुतलावेंगे ॥६॥

इनके हँसिये देख फसल थी सीस नवाती;
पड़ी कडी भी भूमि जोत से थी घबराती।
क्या ही होकर मगन चलाते थे ये निज हल !
दब जाता था कठिन चोट के नीचे जंगल ॥७॥

सहज मोद, श्रम सुखद, भाग्य लखकर अनजाना,
इन्हे लालसा ! कभी भूल के तू न सताना।

प्रभुता ! तू सुन दीन जनो की दीन कहानी,
मत करना उपहास, न कहना गर्वित बानी ।।८।।

बिरुदावलि की डींग, उच्च पद का आडम्बर,
रूप, शक्ति, धन, धाम, काम है जो कुछ भूपर,
सबके सिर पर सदा अटल वह घडी खडी है;
कीर्ति-बाट भी मृत्यु-मार्ग के पास पडी है ।।९।।

इन्हे लगाना दोष न कुछ, लोगो अभिमानी,
जो पै इनकी दाहभूमि पर कोई निशानी,
बनवा सकी न कभी यादगारी इस डर मे,
होगा जग मे नाम न दीनो के आदर मे ।।१०।।

पर समाधि या खम कभी क्या ला सकता है,
चपल प्राण घर फेर न जिनका कहीं पता है ?
क्या आदर से मूक भस्म होगी आनन्दित ?
या कठोर, जड मीच चापलूसी से मोहित ।।११।।

थे इनमे कुछ लोग देव-पटतर के लायक,
जो ऋषियो की भाँति धर्म के होते नायक ।
कई नीति के साथ राज का काज चलाते;
वाणी-वीणा मधुर प्रेम से कई बजाते ।।१२।।

पर विद्या ने इन्हे भेद निज नहीं बताया,
जीवन-भर अज्ञान-तिमिर मे वास कराया ।
प्रतिभा इनकी रही रकता नीच दबाये;
इनके मन के भाव सुखद, शुचि विकस न पाये ।।१३।।

रहते हैं अनमोल हजारो मोती सुन्दर,
एक ठौर मे पडे अगम सागर के भीतर;
त्योही ललित गुलाब अलख लाखो खिलते हैं,
वन मे खोय सुगंध व्यर्थ लय मे मिलते हैं ।।१४।।

कई अयोध्यानाथ-सदृश निज-देश-उपासी,
शिवप्रसाद-सम कई देश-अधिकार-उदासी,
इनमें होते कई वीर राणाप्रताप-सम,
अथवा कोई मानसिंह ही मे भूपाधम ॥१५॥

बदा नहीं था इन्हें सभा-कर-ताली सुनना,
दुख-घबराहट और नाश-भय तुच्छ समझना,
सुख-सपति की खानि उर्वरा भूमि बनाना,
निज इतिहास पुनीत जाति-कवि से पढवाना ॥१६॥

यदपि भाग्य ने सदा पुण्य को इनके टोका,
तोभी अघ की ओर, इन्हे जाने से रोका।
हत्या मे से इन्हें राज्य-पद नहीं बताया,
दीन-दया का द्वार न इनका बन्द कराया ॥१७॥

इन्हें नहीं था ज्ञात कभी सच बात छिपाना,
या करने मे कभी दोष स्वीकार लजाना।
पाकर गिरा-प्रसाद इन्होने गही सिघाई;
भोग-विलास-घमड-वान भी पास न आई ॥१८॥

मदमातो की नीच कलह से दूर निकलकर,
इनकी इच्छा वीर न भटकी कभी विचलकर।
जीवन की एकान्त शान्त घाटी का प्रिय मग,
चला किये चुपचाप फूँककर ये रखते पग ॥१९॥

लोगो ! जितना बने कहो इनके गुण ही अब,
छोड़ो इनके दोष प्रकट करने का करतब।
तुम भी होगे एक दिवस इन सबके साथी,
बंधे जहाँ के तहाँ छोड सब घोड़े-हाथी ॥२०॥

|■|

अश्रु-पात (आत्मकथ्य)

(१)

जीवन भर ये आँखें मानो सावन-भादो बनी रहीं
सोने मे, सपने मे भी हैं चिन्ता-बूंदें बहुत बहीं।
मेरे सब ये अश्रु एक अध-भरे पात्र मे हैं एकत्र,
यह अपूर्ण घट भरवाने को भेज रहा हूँ मैं सर्वत्र।

(२)

हुई पिता की मृत्यु, कहा रोकर मैंने, माया छोड़ी !
कहाँ चले तुम पिता हाय ! क्यों ली न साथ फूटी कौड़ी।
देख अश्रु माँ के नेत्रो मे मेरे आँसू उमड पड़े,
मेरे सजल नयन लख माँ ने अपने आँसू किये बड़े !

(३)

माता का जीवन मैं सुखमय अन्तकाल तक कर न सका,
विधि भी स्वयं किसी विधि उनके त्रिविध ताप को हर न सका !
वे भी चली गई सब तज कर, रख मेरी आँखो मे रूप,
अब भी दे देती हैं मुझको छाया-दान हटा कर धूप।

(४)

हुआ अनाथ, परन्तु नाथ का करके ध्यान सनाथ हुआ,
बिना साधना के ही सिर पर वरद चतुर्भुज हाथ हुआ।
रोदन-वर्षा मे नव जीवन-रूपी विद्युत चमक गई,
नयनो की धारा जीवन की धारा मे मिल हुई नई।

(५)

उज्ज्वल गृह-दीपक का नूतन जीवन मे प्रतिबिम्ब पडा,
हृदय हर्ष-विस्मय-श्रद्धा से रहा देखता उसे खड़ा।
पर गृह-दीपक की कम्पित गति बहुधा मुझे रुलाती थी,
मेरी बुद्धि भेद सुख-दुख का उसके कभी न पाती थी !

(६)

साधारण घर-द्वार, वस्त्र-पट, साधारण भोजन, अनुपान
देख सभी मेरे परिजन यह करते होंगे मन में ध्यान
क्यों ऐसे अज्ञान अकिञ्चन जन से हुआ हमारा साथ ?
मैं क्या कहूँ ? तुम्हीं बतलाओ, क्यों यह हुआ साथ हे नाथ ?

(७)

श्रीमानों का, धीमानों का, देखा है मैंने व्यवहार;
शील नहीं पाया आँखों में होने पर भी आँखें चार !
शील-हीन आँखों को लख कर मेरे नेत्र उमडते हैं ;
सभ्य-जगत् की असभ्यता पर झट आँसू गिर पडते हैं ?

(८)

हृदय-हीन की नीच-निठुरता हीनों को कलपाती है;
उसे देख कर हृदयवान की आत्मा कब कल पाती है ?
जिस दृग-जल से दीन-दुखी जन प्रभुओं के पद धोते हैं,
उससे मिलने को ये मेरे आँसू आतुर होते हैं।

(९)

सुखद शारदा-सेवा में भी आँसू से मुँह धोता हूँ,
माता के पुत्रों की करनी लख मैं व्याकुल होता हूँ।
विधि भी लक्ष्मी-सरस्वती का नहीं मिटाता जो सयोग,
उसे विशेष भक्ति का मिस कर मिटवा देते हैं ये लोग।

(१०)

दुख है मुझे स्वयं अपना जो किया न कुछ उपकारी कार्य,
झूठ मूठ ही आर्य कहा कर किया सदा आचरण अनार्य।
व्यर्थ जन्म लेकर मैं जग में भूमि-भार हो जीता हूँ,
भरा भले बाहर से दीखूँ, पर भीतर से रीता हूँ।

(११)

अश्रु-पात करता हूँ मैं, पर अश्रु-पात्र मम भरा नहीं;
इसे पूर्ण करने मे होती हाय ! सहायक जरा नहीं ।
क्या जाने कब तक रोना है, कब तक पूरा होगा पात्र !
कहीं बीच ही मे गिर जावें अन्तिम आँसू, रहे न गात्र !

(१२)

हे पाठकों, तुम्हे ही अब मैं अश्रु-पात्र यह देता हूँ;
इसके लिये तुम्हीं से केवल दो-दो आँसू लेता हूँ ।
इस अपूर्ण घट को तुम अपने अश्रु-पात्र से भर देना;
फिर करुणा-रस-पात्र सामने सरस्वती के धर देना ।

|■|

गोल मेज (व्यंगोक्ति)

रूप एकसा, गोल-मेज का रुचिर सरल है,
उल्टी-सीधी नहीं, कहीं भी इसकी कल है ।
इसमे कोई नोक-कोन का काम नहीं है;
टेढाई भी नहीं, सिधाई भी न कहीं है ॥१॥

लम्बी-चौडी नहीं, नहीं यह नीची-ऊँची,
केवल गोलाकार बनी है मेज समूची ।
इसमे कोई जोड़ न कोई कोर-कसर है;
मध्य भाग मे थमी मेज सब ओर अधर है ॥२॥

आदि-अन्त भी नहीं, नहीं क्रम दिशा-काल का;
है नियमित संयोग मेज में बिन्दु-जाल का।
घिरा हुआ है क्षेत्र, एक ही रेखा द्वारा,
अन्तर सम सब ओर केन्द्र ने है विस्तारा ॥३॥

इसको रूप अखंड, मंडलाकार बना है,
सूर्य-चन्द्र से अधिक शुद्ध इसकी रचना है।
हैं भूगोल, खगोल गोल यद्यपि कहलाते;
गोलमेज को कभी नही ये कोई पाते ॥४॥

इसके चारो ओर बैठना अति सुखकर है;
नहीं नोक की चोट, न उसका कोई डर है।
देता गुरु-लघु भेद नहीं कुछ यहाँ दिखाई;
जानी जाती नहीं ऊँचाई और निचाई ॥५॥

सम्मुख बैठे लोग यहाँ हैं सम अन्तर पर;
विमुख व्यक्ति भी नहीं बैठते विमुख परस्पर।
दृष्टि-कोण में अधिक नहीं है खींचा-तानी;
हो सकती है बातचीत सबसे मन-मानी ॥६॥

तज चौखूँटी मेज कष्टमय, विरोधकारी,
गोल-मेज-व्यवहार करें भारत-नर-नारी।
यद्यपि है यह वस्तु विदेशी, आडम्बर है,
तो भी दूषण-रहित, सुभीते की, सुन्दर है ॥७॥

॥■॥

कुलीनाथ पाँड़े ! (व्यंगोक्ति)

पढ़े-लिखे जन नहीं हुए थे जब कोडी के तीन,
कुलीनाथ पाँडे बन बैठे गिनती सीख अमीन ।
पढ़ने-लिखने का पाँडे को बहुत नहीं था काम,
करते थे केवल साहब को झुककर बहुत सलाम ॥१॥

दफ्तर में उम्मेदवार जो आते थे विद्वान्,
बातें देकर कुली लिखाते उनसे सब चालान ।
जो करता "नाहीं" करने को यह सरकारी काम,
कुली कराते उस पर अपने साहब को नाराज ॥२॥

कुलीनाथ सब कागज पूरे रखते थे तैयार,
इस करनी से ज़िलाधीश का उमडा उनपर प्यार ।
धीरे-धीरे साहब का भी सब अँगरेजी काम
लगे कराने पाँडे पूरा करके अपना नाम ॥३॥

देख अलौकिक कार्य कुशलता ज़िलाधीश मतिमान
हुए प्रसन्न कुली पाँडे पर पूरे पिता-समान ।
बालक पाँडे ने भी अपने जन्म, नाम का भेद
कह डाला सब धर्म पिता से किया न कुछ भी खेद ॥४॥

सेवक-स्वामी-भाव अब सच्चा बढ़ने लगा विशेष;
अलख प्रेम लख इन दोनों का घबराता था देश ।
मेम साहबा भी यों अपना लगीं दिखाने नेह,
पाँड़े की पत्नी ने उनको अर्पण कर दी देह ॥५॥

जिलाधीश से हुए कमिश्नर ज्योंही साहब हाग,
नराबीन क़िस्मत पाँडे की उठी साथ ही जाग ।
पौरुष पाकर कुली पिता का डिपटी हुए कमाल,
पेंचीले झगड़ों मे बाँके करने लगे सवाल ॥६॥

सरल वकील निडर मुंशी, चतुर तहसीलदार,
अड़ने लगे मोह के मारे नित डिप्टी के द्वार ।
बड़ी बड़ी मिसलों में लिखकर केवल अपना नाम:
हुए प्रसिद्ध कुली कानूनी, न्यायमूर्ति गुणधाम ॥७॥

प्रभुता पाकर 'कुली' कहाना लगने लगा क्लेश;
किन्तु कुली ने नाम बदल पांड़े रहे न कुछ भी शेष ।
कभी-कभी पांड़े के पहले क्रम से जोड़ नकार
कुली न नाम न पांड़े पूरे बनते थे बेकार ॥८॥

न्यायकार्य से जब मिल जाता पांड़े को अवकाश,
फैला देते घर भर में निज विद्या-बुद्धि प्रकाश ।
सुनकर पति के मुंह से पति का दण्ड-दान-अधिकार,
पत्नी करती तन-मन-धन से पति पर पूरा प्यार ॥९॥

प्रतिमा एक विष्णु की न्यारी थी घर में प्राचीन,
पूजा नित्य नियम से उसकी करते कुली कुलीन ।
जब मुकद्दमों में आसामी पा जाते थे जीत
भेंट चढ़ाते तब तब आकर प्रभु को सदा सप्रीत ॥१०॥

लड़कों की भी उन्नत करना हुआ शीघ्र आरम्भ;
जिनसे होने लगे कुली तब दृढ़ सरकारी-स्तम्भ ।
बेटे और बहू से पाकर परम उन्नति का भाग,
दोनों पर दोनों दिन दूना प्रगटाते अनुराग ॥११॥

कुछ दिन पीछे नर के लायक रहा न उनका काम:
तीव्र बुद्धि के कारण पद से मिला विवश विश्राम ।
तो भी धर्म-पुत्र पर उनका घटा न दृढ़ अनुराग;
रायबहादुर करा कुली को गये देव निज भाग ॥१२॥

करते ही प्रस्थान हाय के हुआ अविद्या-नाश:
पढ़े-लिखे अब यहाँ-वहाँ से करने लगे प्रकाश ।

रायबहादुर कुलीन पाँडे यह दुर्दशा विलोक,
हुए उदास निराश बहुत ही सके न आँसू रोक ॥१३॥

तो भी उचित न समझा करना पिता कुली ने आन,
जल्दी ही कलि की लीला से प्राप्त किया निर्वाण ।
न्यायासन से विदा सदा को होकर कुली कुलीन,
रहने लगे विवश घर ही मे विष्णु-प्रेम मे लीन ॥१४॥

एक दिवस प्यारी पत्नी ने ठाना ऐसा मान,
रायबहादुर बहादुरी की भूल गये सब शान ।
किया मान-मोचन प्यारी का लेकर ग्राम हजार;
कुलीन पाँडे इसी बहाने बने ताल्लुकेदार ॥१५॥

पत्नी का अनुरोध मानकर सब प्रबन्ध का काम
लिखा कुली ने मुहर लगाकर प्रिय साले के नाम ।
राजा के साले ने ऐसा किया प्रबन्ध महान,
राजा रानी को अति सुख मे रहा न धन का ध्यान ॥१६॥

पर साले का बहुत दिनो तक फला न शासनकाल,
एक बरस के भीतर भारी पडा अकाल कराल ।
हुई भूमि उपजाऊ पडती, लाखो मरे किसान,
तब भी राजा के साले ने किया वसूल लगान ॥१७॥

साहब एक जाँच को पहुँचे ज्योही मिटा अकाल,
हाग-भाज के पास बाग मे गाडा अपना पाल ।
इसी समय साले के डर से करने अदा लगान,
ठहरे हुए वहाँ करते थे भोजन कई किसान ॥१८॥

कुलीराज ने किया साहबी साहब का सत्कार,
पल मे पलट गये साहब के सब विज्ञान-विचार ।
वह समझे यह नित देते हैं अकालियो को अन्न,
कहा कुली से हम हैं राजा ! तुम पर परम प्रसन्न ॥१९॥

साहब के जाने के लगभग एक माह के बाद
मिला तार से कुलीनाथ को यह मंगल सम्वाद—
रायबहादुर कुलीन पाँड़े ! किया आपको आज
महादान पर बड़े लाट ने महाराज-अधिराज ॥२०॥

कुली महाराजा-धिराज को चिन्ताहीन विलोक;
जग-अनारता पर रानी ने किया एक दिन शोक ।
मर्म-वचन सुनकर प्यारी के राजा गये प्रयाग;
कहते हैं तन बीच-घाट में दिया उन्होंने त्याग ॥२१॥

'राजनिमृते' यदपि रानी ने पाया सब अधिकार,
साले करते रहे पूर्ववत् निज यश का विस्तार ।
प्रिय भगिनी को बड़े प्रेम से करा मुक्ति-रसपान,
भोग रहे हैं राज्य कुली का साले बन सन्तान ॥२२॥

|■|

बालसाहित्य

बगीचा

१ चलो बालको, आज दिखावें तुम्हें बगीचा ।
बिछा हुआ है वहाँ हरा रंगीन गलीचा ॥
हम सब उस पर बैठ हवा ठंडी पावेंगे ।
चीजें नई अनेक देख मन बहलावेंगे ॥

२—बीच बाग में बना हुआ है एक फुहारा ।
जिसमें से दिन-रात निकलती है जलधारा ॥
बहता है सब ओर दूर तक निर्मल पानी ।
रहती है सब समय वहाँ ठंडक मनमानी ॥

३ कई रंगो के फूल बगीचे मे मिलते है।
उड़ती है सब ठौर बास जब वे हिलते हैं।
रूप सुडौल अनेक क्यारियो मे दिखते हैं।
हम जैसे आकार पट्टियो पर लिखते हैं॥

४ भाँति-भाँति के पेड वहाँ हैं नये-पुराने।
रहते हैं जो धूप-मेह मे छाता ताने॥
कच्चे, पक्के, कई स्वाद के, छोटे, भारी।
फल देते हैं हमे पेड ये जग-उपकारी॥

५ चिडियों के प्रिय बोल डालियो से आते हैं।
मानो बालक कई साथ मिलकर गाते हैं॥
फिरने को जो लोग बगीचे मे जाते हैं।
आँख, कान, मन, देह, सभी का सुख पाते हैं॥

|■|

फूलमती देवी

(१)

आश्रम एक बना था सुन्दर वन मे किसी गाँव के पास,
बूढ़े कई साधु रहते थे उसमे करते भजन-उपास।
आसपास के ग्राम-निवासी अन्न-वस्त्र-फल लाते थे,
हो निश्चिन्त परम, निज जीवन बूढे साधु बिताते थे॥

(२)

बिना परिश्रम के सुख मे जब उनको रहते दिन बीते,
आलस-भरे हृदय तब उनके होने लगे प्रकट रीते।
धीरे-धीरे बढी शिथिलता फिर जीवन ज्यों भार हुआ,
त्योंही फूलमती देवी का आश्रम मे अवतार हुआ॥

(३)

श्वेत वस्त्र, फूलों के भूषण पहने कर में फूल लिये,
दिव्य रूप में सुन्दर दर्शन देवी ने तत्काल दिये।
देख अलौकिक रूप सामने हुई साधुओं को आशा,
पूर्ण अवश्य करेगी देवी हम सब की सुख अभिलाषा॥

(४)

तब सब ने बैठे ही बैठे फूलमती को किया प्रणाम,
दिव्य प्रसाद समझ फूलों को सभी माँगने लगे सकाम।
किसी किसी ने कर फैलाये और किसी ने जोड़े हाथ,
कोई लगा प्रार्थना करने किसी किसी ने टेका माथ॥

(५)

देवी बोली रिस में उनसे, फूल नहीं तुम पाओगे,
योंही बने असभ्य, आलसी अपना समय बिताओगे।
अपने ही खाने, पीने की चिन्ता में तुम रहते हो,
कष्ट दूसरों को देते हो, आप नहीं कुछ सहते हो॥

(६)

इतने में ग्रामीण भक्त कुछ पास साधुओं के आये,
फूलमती को देख वहाँ सब भक्ति-भाव से हरषाये।
प्रेम-सहित देवी के आगे कर जोड़े वे रहे खड़े,
दशा साधुओं की लख आँसू उनकी आँखों से उमड़े॥

(७)

ग्राम-वासियों की सज्जनता सदाचार, सेवा, अनुराग,
लखकर फूलमती देवी ने दी तुरन्त अपनी रिस त्याग।
बड़े प्रेम से उसने उनको एक-एक वर-फूल दिया,
होकर परम कृतज्ञ जिन्होंने सीस झुका वरदान लिया॥

(८)

तब देवी ने बड़ी शान्ति से दिया साधुओं को उपदेश,
अपने सुख के लिये किसी को उचित नहीं है देना क्लेश।
रोगी, दुखी, दीन, दुष्टों को औषधि, धीरज, आश्रम, सीख,
कर्म, वचन, मन से देकर ही लेना तुम साधारण भीख।।

|■|

जन्मभूमि

१ जहाँ जन्म देता हमे है विधाता,
उसी ठौर मे चित्त है मोद पाता।
जहाँ हैं हमारे पिता-बन्धु माता,
उसी भूमि से है हमे सत्य नाता।।

२ जहां की मिली वायु है जीव-दानी,
जहाँ का मिला देह में अन्न-पानी।
भरी जीभ मे है जहाँ की सुबानी,
वही जन्म की भूमि है भूमि-रानी।।

३ लगी धूल थी देह मे जो हमारी,
कभी चित्त से हो सकेगी न न्यारी।
बनाती रही देह को जो निरोगी,
किसे धूल ऐसी सुहाती न होगी।।

४ पिला दूध माता हमे पालती है,
हमारे सभी कष्ट भी टालती है।

इसी भाँति है जन्म की भू उदारा,
सदा संकटों में सुतों का सहारा ॥

५ कहीं जा बसें, चाहता जी यही है,
रहे सामने जन्म की जो मही है।
नहीं मूर्ति प्यारी कभी भूलती है,
छटा लोचनों में सदा झूलती है ॥

६ यथा इष्ट है गेह, त्योंही पुरा है,
नहीं एक अच्छा, न दूजा बुरा है।
पुरी, प्रान्त, त्यों देश भी है हमारा,
सभी ठौर है जन्म भू का पसारा ॥

७ जिसे जन्म की भूमि भाती नहीं है,
जिसे देश की याद आती नहीं है।
कृतघ्नी महा कौन ऐसा मिलेगा,
उसे देख जी क्या किसी का खिलेगा ॥

८ धनी हो महा या बड़ा नाम-धारी,
नहीं है जिसे जन्म की भूमि प्यारी।
वृथा नीच ने मान सम्पत्ति पाई,
बुरे के बढे से हुई क्या भलाई ॥

९ जिन्हें जन्म की भूमि का मान होगा,
उन्हें भाइयों का सदा ध्यान होगा।
दशा भाइयों की जिन्होंने न जानी,
कहेगा उन्हें कौन देशाभिमानी ॥

१० कई देश के हेतु जी खो चुके हैं,
अनेकों धनी निर्धनी हो चुके हैं।

कई बुद्धि ही से उसे हैं बढ़ाते,
यथा-शक्ति हैं वे ऋणों को चुकाते ॥

११ दयानाथ, ऐसी हमे बुद्धि दीजे,
दशा देश की देख छाती पसीजे।
दुखो मे बचाते रहें देश प्यारा,
बनावें उसे सभ्य सत्कर्म-द्वारा ॥

|■|

मेरी पुस्तक

यह मेरी पुस्तक प्यारी, है मुझे बहुत उपकारी। टेक।

यह सदा ज्ञान है देती, जड़ता मति की हर लेती,
जीवन की नौका खेती, यह करती है हित भारी। १। यह०

जब कभी उदासी होती, मन की थिरता है सोती,
तब पुस्तक है श्रम खोती, हो सब प्रकार दुखहारी। २। यह०

यह भला-बुरा है सहती, पर अच्छी बातें कहती;
दुख-समय साथ है रहती, यह होती कभी न न्यारी। ३। यह०

धीरज है कभी बँधाती, साहस है कभी सिखाती,
यह कभी प्रेम उपजाती, कर दूर कुटिलता सारी। ४। यह०

पढ़-पढ़ कर कथा पुरानी, पाते शिक्षा मन-मानी,
सुनकर पुस्तक की बानी, सब होते हैं व्रतधारी। ५। यह०

|■|

मेरी छड़ी

यह सुन्दर छड़ी हमारी, है हमें बहुत ही प्यारी ॥ टेक ॥

यह खेल समय हर्षाती, मन में है साहस लाती;
तन में अति जोर जगाती, उपयोगी है यह भारी ॥

हम घोड़ा इसे बनायें, चम घेरे में दौड़ायें;
कुछ ऐब न इसमें पायें, है इसकी तेज सवारी ॥

यह जीन लगाम न चाहे, कुछ काम न दाने का है,
पर गति में तेज हवा है, यह घोड़ी जग में न्यारी ॥

यह टेक, छलांग लगायें, अँगुली पर इसे नचायें;
हम इससे चमत्कार पायें, यह हमको है सुखकारी ॥

हम केवट हैं बन जाते, इसकी पतवार बनाते,
डोंगी जल बिना चलाते, इस लकड़ी की बलिहारी ॥

कर में तलवार उठाके, बनते हैं सैनिक बाँके;
रिपु के सिर इसे जमाके, हम रक्त न करते जारी ॥

यह भाला अकड़ उठायें, बैरी के पीछे धायें,
हम उसे जीत कर आयें, पर जान न जाये मारी ॥

इसकी बन्दूक बनाते, काँधे पर धर हम जाते;
रिपु को तक इसे चलाते, यह घाव न करे विचारी ॥

अब देखो यह तम्बूरी, गाने के सुर में पूरी;
जोगी की जीवन मूरी, मुरली है इससे हारी ॥

अन्धे को बाट बताये, लँगड़े का पैर बढ़ाये;
बूढ़े का भार उठाये, यह छड़ी परम उपकारी ॥

लकड़ी यह वन में आई, इसमें है भरी भलाई,
है इसकी सत्य बड़ाई, इससे हमने यह धारी ॥

|■|